नये



झरोखे

निबंध
संग्रह

सन् १९५२–'६१ में लिखित

बच्चन की अन्य रचनाएँ

रचनाओं के साथ प्रथम प्रकाशन तिथि का संकेत है।





राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली-6

मूल्य ४.५०

प्रथम संस्करण
फरवरी १९६२


प्रकाशक
राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली

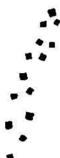

कार्यालय व प्रेस
जी० टी० रोड शाहदरा दिल्ली


बिक्री-केन्द्र
कश्मीरी गेट दिल्ली


मुद्रक :
युगान्तर प्रेस डफ़रिन पुल दिल्ली

समर्पण

स्वर्गीय नवीन जी को
तथा
भाई भगवतीचरण वर्मा को
जिनके स्वरों ने एक दिन
मेरे स्वरों को राह दी थी।



क्रम

अपने पाठकों से

आज आपके हाथों में अपनी एक नई पुस्तक रखते हुए मैं बड़ी प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। 'नए-पुराने झरोखे' में मैंने पिछले लगभग तीस वर्षों में लिखे अपने निबंधों और वार्ताओं का संकलन किया है। इनमें से प्रायः सभी समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित एवं रेडियो से प्रसारित हुए हैं। मेरे बहुत-से पाठकों और श्रोताओं की यह इच्छा थी कि इन लेखों को एक जगह संगृहीत कर दिया जाए। इन सबको ढूँढ-खोजकर इकट्ठा करना मुझे इतने बखेड़े का काम मालूम होता था कि मैं उसे बराबर टालता आ रहा था। इधर इस संबंध में मेरे प्रकाशक का भी आग्रह रहा है। पुस्तक जिस रूप में आपके सामने है आशा है उससे आपको संतोष होगा।

अपने गद्य-लेखन के विषय में आपको कुछ रोचक बातें बताना चाहता हूँ। आज तो लोग मुझे प्रायः कवि के रूप में ही जानते हैं पर एक समय मैं सोचता था कि मैं गद्य-लेखक ही बनूँगा और अपनी पहली रचना गद्य की ही प्रकाशित करना चाहता था। मुझे याद है कि अपने विद्यार्थी-जीवन में मुझे हिंदी निबंधों पर अपनी कक्षा में सबसे अधिक नंबर मिला करते थे। मेरे कुछ सहपाठियों ने मुझे एक बार इन निबंधों को छपाने की सलाह दी और मैं प्रेस भी पहुँचा। प्रेस वाले से मैंने पूछा कि एक कापी की छपाई का क्या लगेगा? सोचा था त्रैराशिक से हिसाब लगा लूँगा कि एक किताब की छपाई का दाम इतना तो १०० किताबों की छपाई का दाम कितना या इतने पैसे में एक किताब छपेगी तो जितने पैसे मैं इकट्ठा कर सकूँगा उतने में कितनी किताबें छप सकेंगी। पर जब प्रेस वाले ने फ़ार्म और रीम और पौंड वाले कागजों की बात करनी शुरू की तो मैं कुछ न समझा और उसने मुझे भगा दिया—एम्पायर प्रेस था उन दिनों मेरे मुहल्ला चक (प्रयाग) के घर से सबसे निकटस्थ प्रेस।

१९१९ से २५ तक छठी कक्षा से दसवीं तक कायस्थ पाठशाला प्रयाग के

विद्यार्थी के रूप में मुझे पद्य-लेखन के अभ्यास का एक अच्छा सुयोग मिल गया। हिंदी-उत्साही भगवती प्रसाद श्रीवास्तव—'मधुप' नाम से उनकी एक पुस्तक भी बाद को छपी थी—और विक्रमादित्य सिंह के उद्योग से पाठशाला में एक हिंदी-समिति की स्थापना हुई थी। साहित्य-साधना में लगे रहते तो दोनों का छायावाद-काल के कवियों एवं नाट्यकारों में कम ऊँचा स्थान न होता। विद्यार्थियों की एक हस्तलिखित पत्रिका निकलती थी—'आदर्श'। उसके संपादक यादवेंद्र सिंह थे—'हार' नाम से उनका कहानी-संग्रह भी बाद को छपा शायद और एकाधिक पुस्तकें उनकी निकलीं—मेरे सर्वप्रथम काव्य-संग्रह 'तेरा हार' के नामकरण में उसकी प्रेरणा रही होगी। मेरे अक्षर मोती की तरह होते थे। पत्रिका के लिए आए हुए लेखों को एकरूपता देने के लिए मुझे सबको एक आकार प्रकार के कागज़ों पर लिखने का काम मिला करता था। उससे मेरी क़लम चलकर सधी होगी। ऊँची कक्षा में पहुँचने पर कुछ मौलिक भी लिखने लगा।

हाई स्कूल तक पहुँचते-पहुँचते मुझे जीवन ने अपनी भावुक बाँहों में जकड़ लिया—जीने के आगे क़लम घिसना फीका थोथा नीरस लगा। क़लम की ओर फिर लाए मुझे डा० सत्य प्रकाश (शायद डा० बाद को हुए) जब मैं बी० ए० में पहुँचा। उनसे परिचय आर्यकुमार सभा में हुआ था। उन दिनों वे एमएस-सी कर रहे थे साथ ही 'विज्ञान' पत्रिका का संपादन भी। मेरा एक विषय दर्शन था। कुछ अपनी अतिशय भावुकता को संयमित करने के ध्येय से कुछ आर्य समाज के तर्क-प्रखर प्रभाव से पर सबसे अधिक विज्ञान-दृष्टि डा० सत्य प्रकाश की संगत से मैं जर्मनी के बुद्धिवादी (रेशनलिस्ट) दार्शनिकों में अतिशयाधिक रुचि लेने लगा। मैं पढ़ रहा था हेकिल की 'द रिडिल आफ द यूनिवर्स'। सत्य प्रकाश जी ने इसी पुस्तक पर मुझसे एक लेख लिखने को कहा। मैंने 'सृष्टि और जीव' शीर्षक से लेख लिखा जिसे उन्होंने विज्ञान में प्रकाशित किया १९२८-२९ के यूनिवर्सिटी सत्र के किसी मास में। पहली बार नाम छपने पर जो फुरफुरी मेरे अंदर हुई थी उसकी तुलना मैं न कर सकूँ अभी अच्छा। था ही लिखा उन्हीं के हाथों में मैंने विज्ञान की एक भाषा थमा दी "मेरा नाम छपा है पढ़िएगा।" इस प्रकार सर्वप्रथम प्रकाशित होने वाला मेरा एक निबंध था—दर्शन जैसे गुरु विषय पर। उसी रौ में कुछ और लेख लिखे

कामों को बाद में नष्ट कर दिए गए।

१९३० के आंदोलन में एम० ए० की पढ़ाई छोड़ने के बाद उसके ठंडे पड़ने पर १९३१ में किसी समय नौकरी की तलाश में मैं 'चाँद' कार्यालय में जा भटका—उसके संचालक थे रामरखसिंह सहगल—हिंदी प्रकाशन में पहली बार प्रचार का सिंगार-पटार, धूम-धड़क्का लाने-मचाने वाले। मेरी बी० ए० की प्रथम श्रेणी—एक विषय मेरा हिंदी था—से प्रभावित होकर उन्होंने मुझे 'चाँद' के सहायक संपादक के रूप में रख लिया। शुकदेव राय संपादक थे। सहगल मुझे हर सप्ताह कुछ किताबें देते और कहते इनकी सहायता से लेख लिखकर लाओ। महीने डेढ़ महीने में उन्होंने मुझसे आठ दर्जन लेख लिखाए। एक दिन मुझे बुलाया और डाँटना शुरू किया "क्या लेख लिखा है, न सिर, न पैर, न भाषा, न भाव तुम्हारा काम खत्म, अपने महीने आकर तनख्वाह ले जाना।"—तनख्वाह मेरी शायद चालीस रुपये महीने नियत हुई थी। एक महीने की तनख्वाह वसूल करने के लिए मुझे 'चाँद' प्रेस के तीन कम चालीस चक्कर लगाने पड़े। पर सबसे अधिक चोट तब लगी जब वही लेख कल्पित नामों और तिथियों के साथ प्रायः ज्यों-के-त्यों 'चाँद' में छपे। एक लेख मुझे आज भी याद है 'स्वामी रामतीर्थ' पर था जिसे आज भी अपना कहते मुझे लज्जा न होगी।

इन लेखों ने इस कल्पना को थपकी दी कि यदि कुछ लिखूँ तो वह अपने योग्य ढाँचा और अभ्यास करूँ तो निबंध-रूप में व्यवस्थित हो सकता है। मुझे १९३ की यूनिवर्सिटी हिंदी कहानी प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार मिल चुका था दूसरे वर्ष मैं यूनिवर्सिटी का छात्र न रह गया था फिर भी मेरी कहानी सर्वश्रेष्ठ समझी गई थी और प्रतियोगिता के बाद पढ़ाई गई थी—'हृदय की आँखें' शीर्षक से यह कहानी प्रेमचंदजी ने 'हंस' के विशेषांक में छापी। एक और कहानी भी मेरी छपी थी, पर उसमें प्रेमचंद को इतना संशोधन करना पड़ा था कि उसे अपना कहते मुझे संकोच हुआ। पारिश्रमिक कुछ भी नहीं मिला था। कुछ कहानियाँ और लिखीं एक को 'माधुरी' में स्थान मिला एकाध को अन्य पत्रिकाओं में। ये कहानियाँ मैंने कई वर्षों बाद 'प्रारम्भिक रचनाएँ भाग १' में प्रकाशित कराईं। निबंध के संबंध में कहीं पढ़ा था कि उसमें सफलता के लिए सम्यक अध्ययन और परिपक्व अनुभव की आवश्यकता होती है। निबंध और न लिखे।

३१ ३२ में साहित्य भवन, प्रयाग से एक हास्य पाक्षिक 'मदारी' नाम से निकलता था। कुछ महीनों तक मैं उसका भी संपादक रहा। फुलस्केप साइज के आठ-दस पेजों का पूरा मसाला मुझे ही देना होता। प्रति अंक के शायद १० रुपए मिलते थे। उसके अंकों में एक व्यंग्य संपादकीय—'प्लेनचैट पर' और भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' की विस्तृत समालोचना को अपनी कहकर मैं आज भी कुछ गर्व का अनुभव कर सकता हूँ। १९३२ में 'पायोनियर' के बस्ती प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हुए मैंने प्रफुल्ल चन्द्र ओझा 'मुक्त' को एक लम्बा पत्र लिखा तो उन्होंने उसे मुंशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव को दिखाया जो उस समय 'चाँद' का संपादन कर रहे थे। मुंशीजी को यह पत्र इतना पसंद आया कि उसे उन्होंने 'चाँद' में छापा। अपने स्वाभाविक लेखन में मेरा आत्म-विश्वास जगा। उसी समय मेरी लिखी कुछ पुस्तक-आलोचनाएँ 'सरस्वती' में छपीं। ३२ में ही किशोरीलाल गोस्वामी की स्मृति में 'माया' का विशेषांक निकला तो मैंने उनके संबंध में एक संस्मरण लिखा जो अपनी सजीवता के कारण उस समय पसंद किया गया—इस संग्रह के लेखों में सबसे पुराना वही है।

इसके बाद तो मुझे कविता-कामिनी का मद ऐसा लगा कि गद्य मुझसे छूट ही गया। १९३३ के अंत में मैं 'मधुशाला' के कवि के रूप में 'बदनाम' हो चुका था।

१९३६ में अपनी पत्नी का इलाज कराने को पटना गया तो 'मुक्त' जी ने वहीं से 'बिजली' मासिक निकालने की योजना बनाई। मेरा फिर से गद्य लेखन इसी पत्रिका के लिए शुरू हुआ। कहानियाँ तो शायद कई वर्ष पूर्व लिखी प्रकाशित हुईं। अन्य लेखों में प्रमुख था प्रेमचंद-संबंधी एक संस्मरण जो उनकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित हुआ था। इस संग्रह में वह भी है। 'बिजली' ज्यादा दिन नहीं चली।

आगे गद्य लिखने की प्रेरणा मुझे मुख्यतः रेडियो के कारण मिली। लखनऊ का रेडियो स्टेशन १९३६ में स्थापित हुआ। वहाँ से कई बार विभिन्न विषयों पर वार्ताएँ प्रसारित करने के निमंत्रण आए। यह क्रम और बढ़ा जब १९४९ में इलाहाबाद में भी रेडियो स्टेशन खुल गया। परन्तु इनमें से अधिकांश विस्मृति के गर्भ में पहुँच गई हैं। पहले वार्ताओं को छपाने के संबंध में रेडियो के

नियम कठोर थे वार्ता प्रसारित हो गई, बस उसकी लिखित प्रति रेडियो में रख ली। मैं इन वार्ताओं की कोई प्रति अपने पास न रखता था—एक बार वार्ता लिखने फिर उसकी साफ़ कापी तैयार करने में ही धीरज इतना छूट जाता था कि तीसरी प्रति बनाने की हिम्मत न रह जाती थी—टाइप कराने की सुविधा मेरे पास न थी—विशेषकर जब उसका और कोई उपयोग न था। स्वतः प्रेरित न होने से उन्हें मैं अधिक महत्त्व भी न देता था—रेडियो द्वारा लिखाई वार्ता का मूल्य था नक़द रुपए में बदल जाना। अगर कहीं मन में उन वार्ताओं के कभी छपित रूप में देखने की बात थी भी तो यह विश्वास था कि वे सरकारी ताबूत में सुरक्षित हैं। १९५६ में पहली बार—शायद किन्हीं वार्ताओं को पुस्तक-रूप में प्रकाशित देखकर—मेरी यह इच्छा हुई कि अपनी वार्ताओं को कम से कम एक जगह इकट्ठा कर लूँ—कभी इनका प्रकाशन हो सकता है। इलाहाबाद-लखनऊ केंद्रों से अपनी वार्ताओं की प्रतिलिपियाँ माँगीं तो उत्तर आया कि रेडियो किन्हीं नियम के अंतर्गत तीन वर्षों से अधिक पुरानी पांडुलिपियों को नष्ट कर देता है। ५२ के पहले की मेरी कोई वार्ता उनके पास सुरक्षित न थी और ५२ से ५४ तक मैं स्वयं विदेश में था—यानी केवल ५४ ५५ की दो-तीन वार्ताएँ उनके पास थीं।

मैंने कहा "गतं न शोचामि" और आगे के लिए सतर्क हो गया। तब से जो वार्ताएँ दी या जो लेखादि लिखे उनकी प्रतिलिपियाँ अपने पास रखता गया—१९५६ के बाद लेखों को टाइप कराने की सुविधा भी मेरे पास हो गई थी। संग्रह तैयार करने का विचार मन में आया तो कुछ पुराने कागद-पत्रों की छान-बीन शुरू की। एकाध पुरानी वार्ताओं के प्रथम-पेंसिल-प्रलेख मिल गए, जिनके आधार पर उनका उद्धार संभव हो सका। इस प्रकार कुछ पुराने और कुछ नए लेखों का यह संग्रह तैयार हुआ। आशा है इसका 'नए-पुराने झरोखे' नाम मेरे पाठकों को सार्थक प्रतीत होगा।

पुराने लेख और वार्ताओं की स्मृति-प्रतिध्वनियाँ मेरे पाठकों-श्रोताओं के दिमाग़-कान में कितनी हैं, इसे मैं कैसे बताऊँ। मेरे इधर के निबंधों को लोगों ने पसंद किया है और उन्हें संग्रह-रूप में देखने की इच्छा प्रकट की है। सुमित्रानंदन पंत से सम्बद्ध निबंधों को मैंने १९६० में उनकी षष्ठ्यपूर्ति के अवसर पर 'कवियों में सौम्य संत' के नाम से प्रकाशित कराया था। उसका जो स्वागत

हुआ है, उससे अपने इन निबंधों को भी प्रकाशित कराने को मैं प्रोत्साहित हुआ हूँ।

संग्रह के संबंध में दो-एक बातें कहना चाहूँगा। पुस्तक के प्रारंभ में जिस अवधि का संकेत किया गया है उसमें लिखे सब निबंध यहां नहीं हैं। मैं अपनी पांडुलिपियों की पूरी जाँच-पड़ताल नहीं कर सका। प्रकाशित कई लेखों की स्मृति है पर न उनका प्रथम प्रलेख ही मुझे मिला है, न उनकी कतरन ही मेरे पास है और न ठीक से याद ही है कि वे कब-कहाँ प्रकाशित हुए—विशेष स्मृति है निराला जी पर लिखे एक लेख की जो आज से बारह-तेरह वर्ष पहले शायद 'संगम' (प्रयाग) में प्रकाशित हुआ था। इसी प्रकार सरोजिनी नायडू पर लिखी एक वार्ता की याद है, जो उनके स्वर्गवास पर प्रयाग से प्रसारित हुई थी। बाद को भी इन पर लिखे निबंधों से उस अभाव की कुछ पूर्ति हो गई है।

सोचना पड़ा निबंधों का क्रम क्या हो। उन्हें रचनाक्रम में रखा जा सकता था दो प्रकार से पुराने से नये की ओर या नये से पुराने की ओर दोनों ही कुछ यांत्रिक (मिकैनिकल) से होते। कुछ निबंधों में विषय-साम्य तो है ही—केवल तिथि के कारण उन्हें दूर करना ठीक नहीं जँचा। इसलिए मैंने दोनों दृष्टि बिंदुओं से क्रम बिठलाना शुरू किया। जो विषय मेरे अधिक निकट हो सकते थे उन्हें प्राथमिकता दी तो क्रम विषयों के अंतर्गत नवीन से प्राचीन की ओर हो गया। संग्रह के नाम में भी 'नए' पहले हैं, 'पुराने' बाद को। आशा है यह क्रम आपको पसंद आएगा। जहां निश्चित हो सका है लेखों के अंत में तिथि निर्देश कर दिया गया है। जहां तिथि के आगे प्रश्नवाचक चिह्न है वहां मेल कुछ आगे-पीछे का हो सकता है। तिथिक्रम में ही पढ़ने का आग्रह शायद ही मेरे किसी पाठक को हो पर यदि हो तो पन्ने उलट-पलटकर ऐसा संभव हो सकेगा। असुविधा के लिए मैं क्षमा मांग लूं। पर अधिकतर लोग मेरा विश्वास है मेरे निर्धारित क्रम से ही लेखों को पढ़ेंगे। कोई विकल्प कोई सुझाएगा तो उसपर मैं कृतज्ञतापूर्वक विचार करूँगा।

संग्रह या संकलन का पाठक विविधता के लिए तैयार होकर आता है। इन नए-पुराने झरोखों में आपको विविधता तो मिलेगी ही—शायद इनके बीच किसी प्रकार की एकता का भी आभास हो—ये सब मेरी ही लेखनी के रचे हैं।

अपने पाठकों से

मेरी कविताएँ भी वातायन-स्वरूप रही हैं जिनसे आपने मेरे घर में मेरे
हृदय में मन में मस्तिष्क में झाँका है। मेरा घर कोई बापू का घर नहीं मेरे
हृदय में कोई विचित्र धड़कनें नहीं मेरे मन में कोई अनोखी तरंगें नहीं मेरे
मस्तिष्क में कोई अद्भुत हलचलें नहीं—फिर भी अपना वातायन मैंने कभी सूना
नहीं पाया। केवल कौतूहल स्थायी नहीं होता। अजनबी में बहुत दिन रुचि नहीं
रहती। मुझे विश्वास है इन सब मेरी कही जानेवाली चीज़ों में आपने अपने
को भी देखा है—आपको मैं बाहरी रूप तक सीमित नहीं करता इसे स्पष्ट करने
की तो शायद ही आवश्यकता हो। सबसे अधिक इसी विश्वास ने मुझे प्रेरित
किया है कि मैं अपना घर, हृदय मन मस्तिष्क साफ़, सरल सहज स्वाभाविक
रखने का प्रयत्न करूँ कि जब कोई इनमें झाँके तो अपने को देख सके। जब
उन्होंने केवल मुझे ही देखा होगा तब निश्चय ही उसका कारण मेरे घर की
गंदगी होगी। पूर्णता का दावा कौन कर सकता है? मैं अपनी अपूर्णताओं से
अचेत नहीं।

मेरी ऐसी आशा है कि ये निबंध भी एक प्रकार के वातायन सिद्ध होंगे। गद्य
में निबंध का वही स्थान है जो पद्य में गीत का। इन झरोखों से आप मेरे घर
के कुछ ऐसे कोनों को देख सकेंगे जो मेरी कविता के वातायनों से अदृश्य रहे हैं।
इन दृश्यों से आपका कौतूहल शांत हो कोई जिज्ञासा तृप्त हो किसी धारणा को
बदली सके आपका कुछ मनोविनोद हो आपके कोई भाव-विचार उद्गम-स्फूर्त
हों—आवश्यक नहीं कि वे सदा मेरे अनुकूल हों—तो मुझे संतोष होगा। आपकी
प्रतिक्रिया जानने को मैं उत्सुक रहूँगा।

१३ विलिंग्डन क्रिसेंट
नई दिल्ली—११
४ ११ ६१

—बच्चन

नवीन जी   एक संस्मरण

नवीन जी कवि थे पत्रकार थे साहित्यकार थे वक्ता थे प्रेमयोगी थे देश प्रेमी थे राष्ट्रनेता थे संसद-सदस्य थे पद्मभूषण थे और भी बहुत-कुछ थे पर मेरी दृष्टि में सबसे पहले और सबके ऊपर वे योद्धा थे और वे योद्धा के समान जिए और योद्धा के समान मरे भी।

मुझे दिल्ली आए अभी साल भर भी पूरा न हुआ था कि मेरी पत्नी भीषण रूप से बीमार पड़ गईं और उनका उपचार कराने के लिए मुझे उन्हें विलिंगडन नर्सिंग होम में रखना पड़ा। तभी मुझे पता चला कि इसी अस्पताल में नवीन जी भी हृद्‌रोग से पीड़ित होकर दाखिल हुए हैं। सुनकर कानों को विश्वास नहीं हुआ। अभी कुछ ही दिन पहले उन्होंने गणतन्त्र-दिवस पर होने वाले लाल किले के कवि-सम्मेलन का सभापतित्व किया था और क्या मस्ती से अपनी कविता सुनाई थी। पर जीवन में असंभाव्य क्या है। उन दिनों तो उनसे बात-चीत करने की भी मनाही थी। हम लोग दूर से उन्हें देखते और लौट आते। रोग का पहला आक्रमण भी प्रबल था पर नवीन जी कुछ दिनों बाद अच्छे हो अस्पताल से निकल आए। उनका शरीर क्षीण हो गया था उनके बदन पर कपड़े ढीले हो गए थे उनका रंग बहुत दब गया था पर जिस चीज से हम लोगों को सबसे ज्यादा तकलीफ होती थी वह यह थी कि जिस नवीन का स्वर किसी भी सभा-गोष्ठी में सबके ऊपर और सबसे अलग सुनाई पड़ता था जिस नवीन के अट्टहास से दरों में दरारें पड़ती-सी जान पड़ती थीं वह अब मूक-सा हो गया था। वे बहुत धीमे और बहुत कम बोलते और कभी-कभी बोलते-बोलते उनकी जबान लड़खड़ा जाती। और तब ऐसी सभाओं का दृश्य आँखों के सामने घूम जाता जिनमें नवीन धाराप्रवाह बोल रहे हैं और हजारों तालियों की गड़गड़ाहट भी उनकी आवाज को नहीं डुबो पा रही है। नियति ने नवीन जी के साथ कितना क्रूर व्यंग्य किया था।

और उनके ऊपर रोग का आक्रमण फिर हुआ और फिर हुआ। शायद इन तीन-साढ़े तीन वर्षों में बाकी बजन बार वे अस्पताल में दाखिल हुए और बाहर निकले। पिछली मार्च में श्री फीरोज़ गाँधी ने मुझसे बतलाया कि नवीन जी के फेफड़े में कैंसर हो गया है और अब वे एक महीने से अधिक न चल सकेंगे। अप्रैल में मैं कई बार उनसे मिलने को अस्पताल गया। आखिरी बार मैंने उन्हें २७ अप्रैल को देखा। उन्हें आक्सीजन दिया जा रहा था। एक बार उन्होंने आँखें खोलीं तो पास खड़े लोगों को पहचानने की कोशिश करते-से लगे। मैंने कहा 'बच्चन प्रणाम करता है।" उनके मुँह से निकला 'खूब दर्शन' दिए और उन्होंने फिर आँखें मूँद लीं। नवीन जी योद्धा थे और उन्होंने मौत से भी डटकर लड़ाई की। अंतिम बार जब मैं उनकी चारपाई के पास खड़ा था मुझे अंग्रेज़ी कवि राबर्ट ब्राउनिंग की ये पंक्तियाँ बरबस याद हो आईं—

'I was ever a fighter so one fight more,
The best and the last,
I would hate that death bandaged *my eyes*, and forebore
And bade me creep past
No! Let me taste the whole of it, fare like my peers,
The heroes of old
Bare the brunt, in a minute pay glad life's arrears
Of pain, darkness and cold."

इसके मानी हैं—मैं तो सदा का ही लड़ता रहा सो एक लड़ाई और, सबसे बड़ी और आखिरी। मैं इस बात से नफ़रत करूँगा कि मौत मेरी आँखों पर पट्टी बाँध दे, मेरे साथ रू-रियायत करे या मुझसे कहे कि चुपके से खिसक जाओ। नहीं मुझे सारी यातनाओं को झेलने दो सारे कष्टों का सामना करने दो। अपने पूर्व पुरुषों के समान अपने सहधर्मियों के समान मैं भी मौत की चोटों को ओढ़ूँगा और एक क्षण में जीवन के ऋणों का मूल्य चुका दूँगा—दर्द की घूँटी को बुखार को अंधकार को सहन कर, सहन कर!

मरते तो सभी हैं पर एक मरकर मर जाता है और एक मरकर अमर हो जाता है। भेद है मरने के अंदाज़ में। २९ अप्रैल को दिल्ली में जिसने अपना शरीर छोड़ा और कानपुर में जिसकी चिता जली निःसंदेह वह मर-आहर मर कर अमर हो गया। बेस उन्हीं से पूछने के लिए नवीन जी ने ये पंक्तियाँ हमारे

लिए लिखी थीं

"कर चुकी है क्षार तुमको क्या चिता की ज्वाल मोहित ?

और वे पंक्तियाँ दुनिया से कहने के लिए,

"कौन कहता है कि तुमको कर चुका है भस्म पावक ?
आज तो मैं जल रहा हूँ तब छटा सब ओर अपलक !

और वे स्वयं इनका उत्तर भी दे गए हैं,

"तुम समझो हो कि अब हो चले हम नवीन प्राचीन !
क्यों भूलो हो कि हम अमर है !! हम हैं लौह शरीर !!!
सखी री हम है मस्त फ़क़ीर !"

(अपलक)

और अब नवीन जी का लौह शरीर मृत्यु के पारस का परस पाकर कंचन की यशःकाया में परिवर्तित हो चुका है जिसे जरा-मरण का किंचित् भय नहीं है।

उनके जीवन की 'छटा' की झलकियों को यत्र-तत्र पाने का सौभाग्य इन पंक्तियों के लेखक को भी प्राप्त हुआ था। ऐसे समय में जबकि उनका पार्थिव शरीर हमारे बीच नहीं रहा यह स्वाभाविक है कि वे झलकियाँ अधिक स्पष्ट अधिक रंजित और अधिक मार्मिक हो जायँ।

अपनी 'रश्मि रेखा' (१६५१) के प्राक्कथन में नवीन जी ने लिखा था कि "तीस-पैंतीस वर्षों से लिख रहा हूँ।" अर्थात् उन्होंने लगभग १६१६ से लिखना प्रारंभ किया था। यह वही समय था जब श्री सूर्यकांत त्रिपाठी निराला और श्री सुमित्रानंदन पंत ने भी काव्य-रचना आरंभ की थी। वे अवस्था में पंत जी से प्रायः तीन वर्ष और निराला जी से साल-डेढ़ साल बड़े थे। पंत और निराला जी की रचनाएँ शताब्दी के तीसरे दशक में 'पल्लव' और 'परिमल' के नाम से प्रकाशित होकर साहित्य-क्षेत्र में चर्चा का विषय बन गई थीं पर नवीन जी का पहला काव्य-संग्रह (कुंकुम) चौथे दशक के अंत में प्रकाशित हुआ। १६२६ में पंडित रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता कौमुदी' (भाग—२) का तीसरा संस्करण प्रकाशित हुआ था पर उसमें नवीन जी को नहीं सम्मिलित किया गया था कौमुदी-कुंज में भी नहीं जबकि उसमें पंत जी और निराला जी को अलग-अलग स्थान दिया गया था। फिर भी सन् ३० तक पहुँचते-पहुँचते पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित अथवा कवि-सम्मेलनों में पठित कविताओं के आधार

पर नवीन जी कवि के रूप में विख्यात हो गए थे।

सन् १९३३ में प्रयाग में पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्मान में एक अद्वितीय साहित्यिक समारोह आयोजित किया गया जो 'द्विवेदी मेला' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। साहित्यकारों का इतना सद्भावना और सहयोगपूर्ण उत्सव मैंने दूसरा नहीं देखा। उसमें एक कवि-दरबार करने का कार्यक्रम बनाया गया था। नए कवियों में निराला पंत और नवीन की भूमिकाएँ उपस्थित करने का निश्चय हुआ। कविवर नरेन्द्र शर्मा पंत जी की भूमिका में उतरे थे निराला जी के लिए भी कोई लंबा साँवला दुबला व्यक्ति मिल गया था। पर नवीन जी के डीलडौल और काठी का कोई नौजवान प्रयाग में नहीं मिला था। राजर्षि टंडन जी के सुपुत्र श्री गुरुप्रसाद टंडन कवि-दरबार के संयोजक थे। उन्होंने नवीन जी को देखा था। उनकी कविता भी सुनी थी उनके सामने जो भी नवयुवक उपस्थित किया जाता उसे वे 'रिजेक्ट' कर देते—कोई शरीर से अयोग्य सिद्ध होता कोई स्वर से। गुरु जी कहते थे नवीन बनेंगे!—नवीन बनने के लिए चाहिए 'वृषभ कंठ केहरि ठवनि बल निधि बाहु बिसाल'। (नवीन जी ने स्वयं अपनी भुजाओं के लिए लिखा है—ये मम आजानु बाहु देखो अकुलाए हैं।) उनकी जो कविता सुनवाने के लिए चुनी गई थी वह थी—साकी!

"साकी!—मन-घन-गन घिर आए, उमड़ी श्याम मेघमाला,
अब कैसा विलम्ब? तू भी भर भर ला गहरी गुल्लाला
तन के रोम-रोम पुलकित हों
लोचन दोनों अरुण-चकित हों
नस-नस नव झंकार कर उठे,
हृदय विकम्पित हो हुलसित हो
कब से तड़प रहे हैं—खाली पड़ा हमारा यह प्याला?
अब कैसा विलम्ब? साकी भर भर ला तू अपनी हाला।" —आदि
(१९३१ में रचित)

इस कविता को मैं या तो बड़े ठाठ से लेता या पर शरीर से था मैं सींकिया पहलवान! अंत में हम नवीन जी को छाड़ देने का ही निर्णय करना पड़ा मुझे एक देहाती कवि की भूमिका दे दी गई। मुझे याद है उस भूमिका

के लिए मुझे भी दुलारेलाल भार्गव ने एक स्वर्ण-पदक प्रदान किया था जो मेरे पास कहीं पड़ा है।

१९३२ में मेरी कविताओं का एक संग्रह 'तेरा हार' के नाम से प्रकाशित हो गया था। जहाँ तक मुझे स्मरण आता है तब तक हाला प्याला मधुबाला मधुशाला के प्रतीकों के प्रति मेरे मन में कोई आकर्षण न था। मेरे मन में उस समय जो भावनाएँ हिलोरें मार रही थीं उनके लिए मेरे इन प्रतीकों के चुनाव में नवीन जी के उपर्युक्त गीत ने कितनी मदद की होगी इसका अनुमान लगाना मेरे लिए कठिन है। शायद नवीन जी से प्रेरणा से अथवा स्वतः सम प्रेरित हो श्री भगवतीचरण वर्मा भी ऐसे गीत रच रहे थे—"बस मत कह देना अरे पिलानेवाले हम नहीं विमुख हो वापस जानेवाले'। द्विवेदी मेले के कुछ ही महीने बाद मैंने 'रुबाइयात उमर खैयाम' का अनुवाद किया और उसके बाद ही 'मधुशाला' और 'मधुबाला' के कतिपय गीतों की रचना की। तथाकथित हालावाद का मधुबक प्रवर्तन करने के लिए हिंदी के छुटभैये समालोचकों ने मुझे कितनी गालियाँ दी हैं, काश उनमें से कुछ वे नवीन जी और भगवतीचरण वर्मा के लिए भी सुरक्षित रखते क्योंकि इस मामले में पेशदस्ती करने का काम इन्हीं मेरे दोनों अग्रजों ने किया था। बड़मैंने चातुर्य-मौन धारण किए रहे, क्योंकि उन प्रतीकों से जो कहा जा रहा था वह उनकी समझ में न तब आया था और न अब तक आया है। कहीं बात चली तो कह दिया यह तो उर्दू की पिटी-पिटाई शेरबाजी की भौंडी-भद्दी नकल है। पर जनता ने खुले हृदय से इन कविताओं का स्वागत किया क्योंकि वह जानती है कि उसकी कौन-सी भावनाएँ इन प्रतीकों में मुखरित हो रही हैं।

इन मानवीय भावनाओं को दमित न करके, इन्हें स्वीकार करके इनके लिए लज्जित न हो करके इन्हें प्यार करके इनपर अभिमान करके, इनको समष्टिमूलक बना करके इन्हें कलाभिसंयमित करके मुखरित करने का काम खड़ीबोली हिंदी कविता में सबसे पहले नवीन जी ने करना आरंभ किया इसमें मुझे कोई संदेह नहीं है। प्रतीक गौण हैं। नवीन जी के भीतर उन्होंने शब्दों में जब निकलने के लिए कुछ 'घुट घुट' हुई होगी तो अवश्य ही उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों को अपने समकालीनों को देखा होगा। वे द्विवेदी स्कूल की इतिवृत्तात्मक तुकबंदियों से संतुष्ट नहीं थे। तब वे कहते हैं, 'पद्य लिखे जाते

में किस बात पर ? इस बात पर कि एक दक्षिणी महिला का रवि वर्मा द्वारा अंकित ऐसा चित्र है जिसमें वह महिला मंदिर में पूजा करने जा रही है। अब उसी पर कविता हो रही है। वह कैसी साड़ी पहने है उसके हाथ में कैसा थाल है उसमें पंचपात्र है या नहीं इन बातों पर तुकबंदी हो रही है।" उनके अपने खास कानपुर में उन दिनों समस्यापूर्तियों का बोलबाला था। रीतिकालीन परंपरा में कवित्त रचना गाँवों में चल ही रही थी सनेही जी ने केवल उसका माध्यम ब्रजभाषा से खड़ीबोली कर दिया था। 'सुकवि' नाम का पत्र निकलता था और हर मास दी हुई समस्याओं पर सैकड़ों कवि अपनी प्रतिभा का चकरदह पेलते थे। नवीन जी की राय थी "यह समस्यापूर्ति-प्रथा नष्ट कर देनी चाहिए। यह एक व्यर्थ की-सी चीज है। इससे कोई लाभ नहीं होता। उनके मन में था 'कुस कुबों-सा' मँडराने लगता था वह तो किसी की कविता का विषय ही नहीं था। पर वे तो इसके अतिरिक्त और किसी पर लिख भी नहीं सकते थे। किसी प्राचीन के साथ अपना साम्य न देखकर ही उन्होंने अपना उपनाम 'नवीन' रखा होगा। 'निराला' जी ने भी कुछ ऐसी ही परिस्थिति में अपने को 'निराला' कहा होगा। वास्तव में बीसवीं सदी के नवजागरण के साथ हिंदी के [illegible] सभी नवयुवक कवियों ने अपने समाज में अपने को अजनबी पाया होगा। भाज से अपने को अलग करना चाहा होगा किसी ने नया नाम लेकर, किसी नया रूप बनाकर, बाल बढ़ाकर, किसीने नया परिधान धारण कर।

बहरहाल जब मैंने लिखना आरंभ किया और इधर-उधर से उसका विरोध [illegible] शुरू हुआ तब भी मुझे विश्वास था कि एक आदमी ऐसा है जो मेरी [illegible] को पहचानेगा और मुझे बढ़ावा देगा। नवीन जी से मेरी पहली भेंट [illegible] कानपुर के ही किसी कवि-सम्मेलन में हुई। मैंने चार ही पंक्तियाँ सुनाई [illegible] कि नवीन जी तड़प उठे।

"मैं जग जीवन का भार लिए फिरता हूँ
फिर भी जीवन में प्यार लिए फिरता हूँ
कर दिया किसी ने झंकृत जिनको छूकर
मैं साँसों के दो तार लिए फिरता हूँ।"

[illegible]पुरी लहजे में जोर-जोर से वह पढ़े थे "जीता चोट खाया हुआ लगता है!" [illegible]के सामने मैं जीता तो था ही हालाँकि उस वक्त भी मेरी उम्र २७-२८ वर्ष

की होगी पर मेरी काठी कुछ ऐसी है कि मैं हमेशा अपनी उम्र से १० वर्ष कम लगता रहा हूँ। और 'मधुशाला' की रुबाइयों पर उनकी आवाजू सबस ववस मुक्काओं की जो थाप मेरी पीठ पर पड़ी उससे मेरी रीढ़ अकड़ गई। बोले "कविता लगाड़ी लिखते हो सौ-पचास दंड भी निकाला करो बस!

तभी मुझे प्रथम बार उनकी कविता सुनने का भी अवसर मिला। आवाज ऊँची और भारी शब्द-शब्द का उच्चारण अलग-अलग साफ-साफ पूर्ण अभिव्यंजना राग से ऐसी सधी जैसे कोई पक्का गायक कविता सुना रहा है। नवीन जी आत्मलीन होकर कविता सुनाते थे पालथी मार, रीढ़-गर्दन सीधी कर, छाती फुलाकर, जैसे कोई साधक प्राणायाम करने को बैठा हो। तब तक माइक का प्रचार नहीं बढ़ा था और कई हजार आदमी उनकी कविता को मुग्ध-मौन होकर सुन रहे थे। गुरु जी के कहने के अनुसार, नवीन जी वस्तुतः 'वृषभ कंठ' थे 'कंब' नहीं—मानस के दोहे का यह पाठांतर भी मिलता है—गो वे वृषभ कंध' भी थे। मेरे मुहल्ले में एक गवैया उस्ताद रहा करते थे वे कहा करते थे 'आठ बरद बर पावें तब भैरव राग उठावें'—यानी आठ बैल का बल गले में हो तब भैरव राग गाया जा सकता है। कृषि-सभ्यता में शायद बल का एकांश बैल होता होगा जैसे पश्चिम में 'हार्स पावर' का प्रयोग होता है। नवीन जी का गला भैरव राग गाने के लिए बना था। मुझे पता नहीं उन्होंने संगीत सीखा था या नहीं उनकी कविताओं में कहीं-कहीं रागों के नाम दिए हैं। मैं यह भी नहीं कह सकता कि जब वे काव्य-पाठ करते थे तब वह संगीत शुद्ध होता था या नहीं पर उनकी वाणी की ओजस्विता रस-सिक्तता और उनका स्वर-संयमन किसी को प्रभावित किए बगैर नहीं रह सकता था। एक बार दिल्ली रेडियो के कवि-सम्मेलन में वे तानपूरे के साथ कविता-पाठ करने को बैठे थे। इंदौर साहित्य सम्मेलन (१९३५) में उनका गला बिलकुल बैठा था उन्होंने बताया कि कानपुर की किसी सभा में आँधी जी बोल रहे थे और माइक फेल कर गया इस पर उनके गले से माइक का काम लिया गया। इंदौर की यात्रा में मैं उनके साथ था श्रीमती महादेवी वर्मा भी थीं। हम लोग एक दिन खंडवा में श्री माखनलाल चतुर्वेदी के यहाँ ठहरे थे। वहाँ एक कवि सम्मेलन भी हुआ था तब तक महादेवी जी ने कवि-सम्मेलनों में कविता न पढ़ने का महाव्रत नहीं लिया था। नवीन जी ने अपने बैठे गले से भी कविता

सुनाई थी। चतुर्वेदी जी का वह सरस बोलचाल के लहजे में रस पैदा कर देना नवीन जी का बैठे गले से भी बनों की गुरु-गंभीर बहर प्रतिध्वनित करना महादेवी जी का तृषित चातकी-से कंठ से लयपूर्ण काव्य-पाठ करना—गाते उन्हें शायद ही किसी ने सुना हो उनकी भगतिन को छोड़कर—और फिर वह मालवे की संध्या में मालवे के काव्य-रसिकों के बीच भूलने की चीज नहीं है। इसके बाद मुझे फिर अवसर नहीं मिला कि इन तीनों कवियों को साथ सुनूं—या देखूं भी।

उस समय तक कवि-रूप में मेरे नाम के आगे प्रश्नवाचक चिह्न लगा था। बहुतों की दृष्टि में शायद आज भी लगा है। पर नवीन जी ने मुझे कवि होने की सनद दे दी थी। नागपुर साहित्य-सम्मेलन के कवि-सम्मेलन के सभापति के पद से जो भाषण उन्होंने दिया था उसमें उन्होंने मुझे बड़े स्नेह-सम्मान के साथ स्मरण किया था। उस हाला-प्याला वाद की भी वकालत की थी जो अब मेरे नाम से संबद्ध हो चला था पर जिसके आदि प्रतिष्ठाता वे ही थे। जब उनका प्रथम काव्य-संग्रह 'कुंकुम' (१९३९) प्रकाशित हुआ तब यह भाषण उसकी भूमिका के रूप में दिया गया।

इंदौर सम्मेलन के बाद मैं अपने जीवन के संघर्षों में इतना फँसा रहा कि शायद ही कभी नवीन जी से मिलने का मौका मिला। पर उनकी थोड़ी-सी कविताओं को पढ़कर और थोड़े समय तक ही उनके संपर्क में आकर, मैंने उनके व्यक्ति और उनके कवि की विशिष्टता की कुछ झाँकी पा ली थी। वे द्विवेदी-कालीन और छायायुगीन दोनों तरह के कवियों से भिन्न थे। वे जीवन की ठोस अनुभूतियों विदग्ध भावनाओं क्रांतिकारी विचारों सहज कल्पनाओं सरस अभिव्यक्तियों के कवि थे। उन्हें जीवन के तूफ़-तुफ़ान ने ही रोने-गाने को विवश किया था। उन्होंने अपनी कविता के संबंध में जो कहा था वह कोई विनम्रता प्रदर्शन नहीं था वह बिल्कुल सत्य था। "जहाँ तक मेरी कविताओं का संबंध है मैं सिर्फ़ यह कहना चाहता हूँ कि मैं कवि न होऊँ नहिं कहाऊँ। हाँ आज मौजान कुछ धुआँ-सा मन में मंडराने लगता है और कुछ कहने की उत्कंठा हो उठती है। जहाँ तक छन्द शास्त्र का ताल्लुक है मैं उसे बिल्कुल ही नहीं पड़ा। न मुझे रसों के नाम मालूम हैं न मैं यगण-मगण जानता हूँ। ताहम मेरा यह दावा जरूर है कि मेरे छन्द डीले-ढाले नहीं होते।"

उन्होंने राष्ट्रभाषा का सिर ऊँचा करने के लिए कविता नहीं लिखी, न खड़ी बोली हिंदी की ध्वजा फहराने के लिए, न साहित्य की सेवा करने के लिए, न भाषा की कला चातुरी प्रदर्शित करने के लिए, और न कवियशःप्रार्थी बनने के लिए—अपनी रचनाओं के प्रकाशन की ओर से शायद ही कोई उनसे अधिक उदासीन रहा हो—उन्होंने कविता केवल इसलिए लिखी कि जग और जीवन के अनुभवों ने उनके हृदय में कुछ ऐसी हलचल मचा दी थी, ऐसा तूफ़ान उठा दिया था, उनकी नस-नस में ऐसी टीस भर दी थी, ऐसी ज्वाला जगा दी थी कि वे लिखने को अपने को अभिव्यक्त करने को विवश थे। उन्होंने तभी लिखने के लिए लेखनी उठाई, जब किसी गहन, गंभीर, तीव्र, तीक्ष्ण अनुभूति ने उन्हें विचलित कर दिया। मैं इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता कि नवीन जी ने कभी अपनी क़लम को कसरत देने के ध्येय से कुछ लिखा होगा। उनकी हर कविता के पीछे एक इतिहास है, एक घटना है, चलते-फिरते व्यक्ति हैं, जीती-जागती समस्याएँ हैं, विचारों की कशमकश है (इसे नवीन जी विचारों का 'भर्राटा' कहते) भावों का ऊहापोह है (इसे शायद वे भावों का 'सन्नाटा' कहते) और है एक भावुक हृदय, जिसे सबसे लपटते झपटते उलझते सुलझते और मरते-खपते हुए गुनगुनाते भी जाना है। नवीन जी ने अपनी कविताएँ निष्क स नहीं लिखीं, उन्होंने अपने अश्रु, स्वेद, रक्त में अपनी लेखनी डुबाकर लिखा है, जिसमें जग का बहुत-सा गर्द-गुबार भी आकर पड़ गया है। उचित ही है कि उनकी लिखावट अस्वच्छ है, अस्पष्ट है, खुरदरी है, पर वह हर जगह सारगर्भित है, सजीव है, सार्थक है। किसी दिन पाठ्य-पुस्तकों की कुंजी बनाने से फ़ुरसत पाकर हमारे समालोचकों को इन कविताओं का मर्म खोजना होगा, पर वह शब्दों के कोश में नहीं मिलेगा, जीवन के कोश में मिलेगा। इससे मेरा मतलब क्या है, इसे स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देकर यह लेख समाप्त करना चाहूँगा।

१६३६ में नवीन जी का 'कुंकुम' निकला, जिसकी एक प्रति उन्होंने मेरे पास भी भेजी थी। अभी मैं उन्हें धन्यवाद का पत्र भी न लिख पाया था कि कानपुर से किसीने आकर समाचार दिया कि किसी लड़की की धोती में लगी आग बुझाने के प्रयत्न में नवीन जी के दोनों हाथ जल गए हैं। दो-तीन दिन बाद मैं कानपुर गया और किसी परिचित की सहायता से भी गलेश कुटीर पहुँचा, जहाँ नवीन जी

रहा करते थे। नवीन जी की दोनों हथेलियों का एक परत मांस जलकर झूल गया था। नवीन जी पालथी मारे दोनों हाथ संध्या करने की मुद्रा में घुटनों पर रखे बैठे थे जैसे अभी यज्ञ करके उठे हों। उन्हीं से मालूम हुआ कि गणेशशंकर विद्यार्थी की लड़की की साड़ी में आग लग गई थी उन्होंने झपटकर मुट्ठी से आग मसलना प्रारंभ कर दिया और इस प्रकार उनके दोनों हाथ जल गए। पर लड़की जल मरने से बच गई। यह कम हो सकता था कि नवीन जी किसी को आग में जलते देखें और उसे बचाने के लिए उसमें कूद न पड़ें। नवीन जी ने आग से लड़ाई की और उसे परास्त किया। आग बड़ी भयंकर होती है। मेरे पड़ोस में एक लड़की जलकर मर गई थी और आठ आदमी देख रहे थे। पर योद्धा और कायर में यही तो अंतर होता है। नवीन जी निष्क्रिय होकर बैठे थे पर यह विलक्षण अनुभव व्यक्त होने के लिए उनके हृदय-मस्तिष्क को मथ रहा था। वे तो कलम भी नहीं पकड़ सकते थे। चलते समय उन्होंने कहा "इस अनुभव से यह विश्वास हो गया कि अगर देश के लिए कभी आग में कूदना पड़ा तो मन हिचकेगा नहीं।" उस दिन मैंने एक जिंदा शहीद एक साक्षात देवता के दर्शन किए थे। परन्तु दूसर और आया।

'कुंकुम' के बाद नवीन जी की रचनाएं—'रश्मि रेखा' 'क्वासि' 'अपलक' 'विनोबा स्तवन' उस समय प्रकाशित हुई जब मैं ५२ से ५४ तक अपना अध्ययन के सिलसिले में कैम्ब्रिज में रहा। लौटकर व्यवस्थित होने और पिछले दो-तीन वर्षों की साहित्यिक गतिविधि से परिचित होने में मुझे कुछ समय लग गया। सबसे अधिक प्रसन्नता इस बात की हुई कि नवीन जी ने अपने प्रकाशनों की ओर कुछ तत्परता दिखलाई थी। इंग्लैंड जाने के पूर्व मैं उन्हें उज्जैन के एक कवि-सम्मेलन में मिला था जिसका आयोजन बड़े पैमाने पर डा॰ शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने किया था। नवीन जी सपत्नीक पधारे थे। मैंने उनसे प्रार्थना की थी "देश स्वतंत्र हो गया आप भी व्यवस्थित हो गए, दिल्ली में मुकाम कर लिए रहते हैं अब कुछ अपनी रचनाओं के प्रकाशन की ओर भी ध्यान दें।" उन्होंने जिस तरह हँसकर बात उड़ा दी थी उसमें मैं विचार आश्वासन नहीं था।

भारत लौटने पर नवीन जी की रचनाओं को पुस्तकाकार में देखकर संतोष था।

'क्वासि' की 'प्रिय जीवन-नद अपार' और 'अपलक' की 'क्या न सुनोगे

'विनय हमारी' कविताएँ पढ़कर ठिठक गया। इन कविताओं के अंत में स्थान रचना-तिथि के साथ दिया गया है—अग्नि-दीक्षा काल। जहाँ तक मुझे मालूम है—प्राय लगभग दस बरस इन रचनाओं को प्रकाशित हुए हो गए हैं—किसी ने न इसके लिए जिज्ञासा प्रकट की है, न पूछा है, न इसपर प्रकाश डाला है कि यह 'अग्नि-दीक्षा काल' क्या है। और नवीन जी ने शायद यह संकेत इसीलिए छोड़ दिया है कि बिना इस 'अग्नि-दीक्षा' का रहस्य जाने इन कविताओं का रहस्य न खुल सकेगा। मुझे इन कविताओं को पढ़ते ही पता लग गया कि यह अग्नि-दीक्षा वही है जिसमें आग को अपनी हथेलियों से मसलकर उन्होंने एक बालक की प्राण-रक्षा की थी। यह उन्हीं की उदात्त प्रकृति थी कि उन्होंने उस अनुभव को अपने लिए अग्नि से दीक्षित होने का पुण्य अवसर माना। इस घटना पर उनकी भावना और कल्पना किस प्रकार चली है इसे जानना हो तो उनकी इस काल की रचनाएँ पढ़िए,

"क्या न सुनोगे विनय हमारी ?
हुए दग्ध दोनों कर, प्रियवर ! पूर्ण हुई इक मधा तुम्हारी
क्या न सुनोगे विनय हमारी ?
हमें भान है इस जीवन में अपने कृत शत-शत पापों का
इसी राह मिल तुमसे क्या प्रभु, चेतावनी मिली है भारी ?
अब तो सुन लो विनय हमारी।
जीवन के सपन के सपने अब तो मूर्त बन कर दो तुम
जिससे हो जाए विदग्ध यह उच्छृंखल जीवन अविकारी
क्या न सुनोगे विनय हमारी ?
तुम जानो हो अकथ वेदना के झूले में झूले हैं हम
इतना तो प्रसाद दो जिससे मिट जाए जीवन-अँधियारी
क्या न सुनोगे विनय हमारी ?"
(अपलक)

'दग्ध-हृदय और 'जले हुए दिल' का मुहावरा इस्तेमाल करना कितना आसान है। पर 'आग' और वस्तु 'आग' में कितना अंतर है। नवीन जी ने अपने हाथों को आग में झुलसाकर यह पंक्ति लिखी थी—'हुए दग्ध दोनों कर, प्रियवर, पूर्ण हुई इक मधा तुम्हारी'। और जले हुए हाथों का इससे उज्ज्वल और पावन उपयोग

क्या हो सकता था कि उन्हें विजय के लिए बीड़ा आज उठाया जाय। लपटों से जीवन-अँधियारी को दूर कराने और दाह से उच्छृंखल जीवन को संयमित बनवाने की माँग करने के नवीन जी ही अधिकारी थे। इस भावना इस विचार द्वारा इस कल्पना में मीनमेख निकालने का अधिकार मैं केवल उसे दे सकता हूँ जो जलती हुई लपटों में पहले अपना हाथ भस्म कर आए। तभी वह जान सकेगा कि इस अनुभव की अभिव्यक्ति कैसे होती है।

दूसरी कविता में वे कल्पना करते हैं कि एक नद है जिसे कच्चे घड़े के सहारे कैसे पार किया जाय। आवश्यकता है कि आग उस घड़े को पक्का कर दे। इतनी निर्भीकता से आग को मौयन का आग्रह नवीन जी के कंठ से ही संभव था

'किस विधि नद करूँ तरित ? पहुँचूँ उस पार सजन ?
कच्चा घट, घन संकट लहर, भँवर, तीव्र प्लावन
भय है गल जाएगा यह मम तरणोपकरण
दुस्तर सी लगती है जीवन की तीव्रधार
प्रिय जीवन-नद अपार।
यदि वाहित करता था जीवन-नद वेग-युक्त
तो यह रस भाजन भी कर देते अग्नि युक्त
पर यह तो कच्चा है, हे मेरे चिर मुक्त
है उसमें छिद्र कई, और अनेकों विकार
प्रिय जीवन-नद अपार।
पहले इसके कि करो गमन वेणु वादन तुम
पहले इसके कि करो स्वर का आराधन तुम
अब अग्नि-पुंज करो पक्का रस भाजन तुम
छू जाय जिसमें यह तरल तरंग भीति रार,
प्रिय जीवन-नद अपार।

जब मैंने इन दो कविताओं की कल्पना और भावव्यंजना देखी तो मुझे महसूस हुआ कि इस काल की रची और कविताओं की खोज करूँ। उपर्युक्त रचना की निधि में ही एक दूसरी कविता है जो उसमें 'अग्नि-दीक्षा काल' का संकेत नहीं किया गया है, किस कारण मैं नहीं कह सकता। पर निःसंदेह यह

अग्नि-दीक्षा काव्य की सर्वश्रेष्ठ रचना है। शीर्षक है 'विदेह'। एक लड़की की धोती में लगी आग को बुझाने उसकी धोती को उसके शरीर से अलग करने आग की विभीषिका के सामने भी उसके बचाने फिर भी बुझानेवाले की ममत्व पूर्ण निर्ममता निश्छलता अग्नि-पावनता से उसे मग्न कर देने के मौलिक अनुभव को नवीन जी ने इस कविता में अध्यात्म के कितने ऊँचे धरातल पर उठा दिया है। और 'अग्नि-दीक्षा काव्य' का संकेत शायद इसलिए नहीं किया कि इसको नीची सतह पर उतारकर कोई इसका भद्दा-भौंडा अर्थ न निकालने लगे

अचल उतार अंग वस्तर आली तू क्षण भर में होगी चिन्मय
अब कैसा दुराव लाजन से? पूर्ण हुआ तेरा क्रय-विक्रय
नतलोचने हृदय की नीवी खोल नयन में सहज भाव भर,
दिखला दे अपने पीतम को जनम-जनम का अपना निश्चय
अथवा दूर ही करना होगा यह अंतरपट यह आच्छादन
आत्म रमण की तन्मयता में क्या संभव परिरंभण परिणय ?
यह पल्ला यह पट यह अंचल भारभूत हो जाएँगे सब
अरी! तनिक आने तो दे तू उनकी मादक मुरली की लय!
आज बस आवे घड़ी, उर पर है सीमांतुक तरल लाजमय
नेह सफल तब जाग सलौनी! जब हो जाए इस पट का लय
पट ही क्या? कंचन काया भी मचलेगी निर्देह भाव से
उस दिन जब उनके सुपरस से होंगे रोम कंटकित अतिशय

(क्वासि)

यहाँ पीतम कौन है, प्रेयसी कौन है, पट क्या है जिसका लय पीतम के पूर्ण परिरंभण के लिए आवश्यक है। यह कल्पना हमारे साहित्य-दर्शन की इतनी व्यापक भावना है कि इसका रहस्य खोलना इस कविता-कुमारी के साथ बलात्कार करना होगा। इसके विषय में मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि ऐसी कविताएँ लेखनी और स्याही की बूँदों से नहीं उतरतीं वे हृदय की अभाषा से ही लिखी जाती हैं। नवीन जी महीनों लेखनी पकड़ने में असमर्थ थे अगर उन्होंने किसी को बोलकर इनको लिखवाया होगा तो अक्षरशः उनके उत्तप्त उच्छ्वासों से ही ऐसी पंक्तियाँ निकली होंगी 'मैं तो हूँ वैश्वानरस्वामी मैं बैठा हूँ आप पिए, सखि।'

ये तीन कविताएँ भी यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि नवीन जी कहाँ

भरी अनुभूतियों के कवि थे। उनके जीवन की बहुत-सी घटनाएँ और बहुत सी कविताएँ रहस्य के अंधकार में और पाण्डुलिपियों के अंबार में पड़ी हुई हैं। निश्चय ही जब तक एक से दूसरे पर प्रकाश नहीं डाला जाएगा तब तक नवीन जी का जीवन और काव्य दोनों ही हमारे लिए अनबूझ पहेली बने रहेंगे। और मैं अपने शब्दों की पूरी शक्ति और अपने हृदय के पूरे विश्वास के साथ कहना चाहता हूँ कि ये दोनों बूझने योग्य पहेलियाँ हैं और इन्हें बूझकर हम बहुत कुछ पाएँगे जग के बहुत-से भेद जानेंगे जीवन के बहुत-से राज पहचानेंगे क्योंकि नवीन जी आजीवन उन्हीं रहस्यों की खोज में लगे रहे

> “तप्त प्राणों में निरंतर कौन-सी विपदा न झेली ?
> किन्तु उलझी ही रही फिर भी अभी तक यह पहेली
> सतत अन्वेषण किया है बन गई जीवन-सहेली ”
>
> (क्वासि)

देखूँ इन पहेलियों को बूझने के लिए वाणी के कौन-कौन पूत आगे आते हैं।

[जून १९६०]

प्रसिद्ध है। शेक्सपियर पर लिखी उनकी पुस्तक आज भी मान्य है।

नाटक के क्षेत्र में शताब्दी के अंत में आस्कर वाइल्ड (१८५४-१९००) प्रसिद्ध हुए। वे आयरी थे परंतु उन्होंने आयरी प्रभावों से मुक्त रहने का प्रयत्न किया था। उनमें जो कुछ आयरी प्रभाव है उनके अवचेतन से ही आया जान पड़ता है।

उन्नीसवीं सदी के अंत में आयर में जो साहित्यिक पुनर्जागरण हुआ उसके केंद्र डब्ल्यू बी ईट्स (१८६५-१९३९) माने जाते हैं। कविता नाटक निबंध—सभी क्षेत्रों में उनकी ख्याति समान है। उन्होंने डबलिन में एबी थियेटर की स्थापना भी की। इससे प्रोत्साहित होकर कई अच्छे नाटककार आगे आए। इनमें लेडी ग्रिगोरी (१८५२-१९३२) और जे० एम० सिंज (१८७१-१९०९) अधिक प्रसिद्ध हैं। दोनों ने आयर के ग्रामीण जीवन की ओर देखा। लेडी ग्रिगोरी ने भावुकता से सिंज ने व्यंग्य से। डब्ल्यू० बी० ईट्स ने कई प्रकार के नाटक लिखे। जापान के 'नो' नाटकों से प्रभावित होकर उन्होंने प्रतीकात्मक नाटक लिखने में विशिष्टता प्राप्त की। कविता के क्षेत्र में आयरी प्रभाव को न छोड़ते हुए भी अपने समय में वे अंग्रेजी के प्रतिनिधि कवि माने जाते रहे। उनके मित्र जार्ज रसेल जो ए० ई० के नाम से कविताएँ लिखते थे थियोसोफिकल विचारों से प्रभावित थे।

जार्ज बरनार्ड शा (१८५६-१९५०) का स्थान आयर के संबंध में आस्कर वाइल्ड जैसा ही था। पर जिस प्रकार का व्यंग्य उन्होंने समकालीन समाज के हर पक्ष पर किया है वह कोई आयर ही कर सकता था।

ईट्स के समकालीन लेखकों में जार्ज मूर (१८५२-१९३३) का भी नाम लिया जायगा। वे कुछ समय तक आयर के सांस्कृतिक आन्दोलन से संबद्ध रहे पर बाद को अलग हो गए।

आधुनिक काल में जिस लेखक ने सारे संसार का ध्यान डबलिन और आयरलैंड की ओर अपनी एक रचना से ही खींच लिया वे हैं जेम्स ज्वाएस (१८८२-१९४१)। उनके 'यूलिसीज' ने मानव मस्तिष्क की ऐसी गहराइयों को छुआ कि वे सारे संसार के लिए कौतूहल का विषय बन गए। ज्वाएस ने भाषा की अजित अभिव्यंजनाओं की संभावनाओं का भी पता लगाया।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद आयर में साहित्यिक शिथिलता के चिह्न दिखाई देते हैं। कारण शायद नई प्रेरणा का अभाव है। संभवत: यह भी कि आयर की मनीषा गेलिक के पुनरुद्धार और प्रचार की ओर लग गई है और अंग्रेज़ी के साथ उसका भावात्मक संबंध ढीला हो रहा है।

[१९२९]

विलियम बटलर ईट्स

(रेडियो वार्ता)

आधुनिक काल में टी० एस० ईलियट अंग्रेजी भाषा के सबसे बड़े कवि माने जाते हैं, परन्तु उनके प्रसिद्धि पाने के पूर्व यह सम्मान यदि किसी को दिया जाता था तो विलियम बटलर ईट्स को। टी० एस० ईलियट ने स्वयं अपने एक लेख में लिखा था कि यदि मुझसे कोई पूछे कि आधुनिक समय में अंग्रेजी का सबसे बड़ा प्रतिनिधि कवि कौन है तो मैं निःसंकोच कहूँगा कि विलियम बटलर ईट्स। यह बात सर्वमान्य है कि टेनिसन के बाद वे ही अंग्रेजी भाषा के सबसे बड़े कवि हुए हैं। कुछ समालोचकों का मत तो यह भी है कि मिल्टन के बाद वे ही सबसे बड़े कवि हुए हैं। यदि इसमें कुछ अतिशयोक्ति हो भी तो उन्हें वर्ड्सवर्थ और टैनिसन के कोटि का कवि मानने में शायद ही किसी को आपत्ति हो।

ईट्स का जन्म सन् १८६५ में डबलिन में हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा इंगलैंड के स्कूलों में हुई। इसके पश्चात् उन्होंने चित्रकला की शिक्षा डबलिन में ली। उनके पिता स्वयं प्रसिद्ध चित्रकार थे। परन्तु उनका रुझान साहित्य की ओर बढ़ता गया और यद्यपि आजीवन वे चित्रकला में अभिरुचि रखते रहे तो भी उनके सृजन का क्षेत्र साहित्य ही रहा।

उन्होंने लगभग २० वर्ष की अवस्था से काव्य-रचना आरम्भ कर दी थी और अपनी मृत्यु के एक-दो दिन पहले तक वे रचनाएँ करते रहे। उनकी अंतिम रचना उनकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित हुई। उनकी मृत्यु सन् १६३६ में लगभग ७४ वर्ष की अवस्था में हुई। इस प्रकार उनका रचना-काल लगभग ५५ वर्ष तक चला।

जिस समय उन्होंने रचना आरम्भ की उस समय अंग्रेजी काव्य में प्रि-रैफेलाइट स्कूल की कविता का बहुत प्रचलन था और ईट्स की प्रारंभिक कविताओं में

इस स्कूल के प्रभाव स्पष्ट हैं। परन्तु ईट्स अपने समय और अपने व्यक्तित्व के प्रति बहुत सजग थे। जहाँ एक ओर वे केवल अनुयायी बनकर संतुष्ट नहीं हो सकते थे वहाँ दूसरी ओर उन्होंने अपने देश के उस आंदोलन में भी शक्ति लगाई जिसे आयरी पुनर्जागरण कहते हैं और जिसकी पूर्णाहुति आयरलैंड की स्वतंत्रता में हुई। ईट्स कुछ वर्षों तक अपने देश की पार्लियामेंट के सदस्य भी रहे।

आयरी पुनर्जागरण के साहित्य-पक्ष के नेता वे स्वयं थे। साहित्य का जनता से संपर्क स्थापित करने के लिए उन्होंने नाटक की महत्ता समझी और एक नाट्यशाला की स्थापना की जो एबी थियेटर के नाम से प्रसिद्ध है। इसके लिए स्वयं उन्होंने नाटक लिखे और अपने मित्रों से लिखवाए। आयरी पुनर्जागरण में एबी थियेटर का योगदान सर्वविदित है। ईट्स के नाटक आयरलैंड में ही नहीं इंग्लैंड और अमरीका में भी खेले गए और कला की दृष्टि से भी उनका स्थान बहुत ऊँचा माना गया है।

ईट्स ने कविताएँ लिखीं, नाटक लिखे और निबंध लिखे। पर मुख्यतया वे कवि थे। उनके नाटकों को काव्य-नाटक ही कहना उचित होगा। उनके गद्य में भी कवित्व गुण भरे हुए हैं।

ईट्स का मानसिक विकास ऐसे युग में हुआ जब विज्ञान ने ईसाई धर्म से लोगों की आस्था छिन्न कर दी थी। ईट्स आजीवन धर्म की खोज में रहे। वे बहुत दिनों तक थियोसोफ़िकल सोसाइटी के सदस्य रहे। भारतीय दर्शन के प्रति भी उनका अनुराग रहा। भारत की ओर वे विशेष रूप से आकर्षित थे। सरोजिनी नायडू और रवीन्द्रनाथ ठाकुर से उनकी मैत्री थी। उन्होंने गीतांजलि की कविताओं के अंग्रेज़ी अनुवाद की एक-एक पंक्ति सुधारी और उसकी भूमिका भी लिखी। उन्होंने पुरोहित स्वामी की सहायता से दस उपनिषदों का अनुवाद किया और उनकी भूमिका लिखी। उनकी बहुत-सी रचनाओं पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था कि उनके नाटकों का कवित्व गुण संस्कृत नाटकों से आया था। उन्होंने कई संस्कृत नाटकों के अंग्रेज़ी अनुवादों का अध्ययन किया था।

ईट्स की रचनाओं के दो विभाग किए जाते हैं—पूर्व ईट्स और उत्तर ईट्स। पूर्व ईट्स में वे गुण प्रधान हैं जिन्हें हम रोमांटिक कहते हैं। प्रथम

महायुद्ध के पश्चात् ईट्स की रचनाएँ रोमांटिक गुणों से मुक्त हो गईं। स्वप्न और माधुर्य का स्थान वास्तविकता और ओज ने ले लिया। फिर भी दोनों के ऊपर ईट्स के व्यक्तित्व की छाप है। स्वप्न-द्रष्टाओं में वे सबसे प्रथम स्वप्न द्रष्टा हैं और सच्चाई देखनेवालों में उनका सबसे भ्रवल दृष्टिकोण है। यह विशेषता हम फिर दुहरा देना चाहते हैं उनके व्यक्तित्व की है और उनके देश की जिसकी परंपरा संस्कृति इतिहास से उनके हृदय का तन्तु-तन्तु भीगा था।

आयरलैंड की भाषा गेलिक है पर सैकड़ों वर्षों से अंग्रेजी उसपर इस तरह लादी गई है कि वह अंग्रेजी को ही अपनी मातृभाषा समझ बैठा है। उसके कितने ही साहित्यकारों ने अंग्रेजी में उच्चकोटि की रचनाएँ की हैं। फिर भी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद गेलिक को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न हो रहा है। ईट्स ने स्वयं लिखा था कि यदि मैं गेलिक में लिखता तो अधिक अच्छा लिखता। परंपरा के अभाव में ईट्स गेलिक में लिखकर संभवतः न अंग्रेजी से अच्छा लिख सकते और न उनकी रचनाओं का इतना प्रचार होता परंतु फिर भी ईट्स के इस कथन से उनका अपने देश और अपनी भाषा के प्रति अनुराग प्रकट होता है। ईट्स का पौत्र जो भाषा बोलता है ईट्स उसे शायद ही समझ सकते। यदि कभी ऐसा हुआ कि आयरलैंड से अंग्रेजी एकदम निकल गई तो आयरलैंड अपने सबसे बड़े कवि से अपरिचित हो जाएगा। पर जहाँ तक अंग्रेजी का संबंध है अंग्रेजी काव्य में ईट्स का नाम सदा के लिए अमर है। मैंने सुना है कि ईट्स की कुछ कविताओं के अनुवाद गेलिक में हुए हैं। मैं नहीं कह सकता वे कैसे हुए हैं। उनके कुछ नाटकों के अनुवाद योरोपीय और एशियाई भाषाओं में हो चुके हैं और खेले भी गए हैं। हिंदी में जहाँ तक मेरा ज्ञान है, न उनकी कविता का अनुवाद हुआ है और न उनके नाटकों का। ईट्स के साहित्य का विशेष अध्ययन कर मैंने उनपर केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी से डाक्टरेट ली। कभी-कभी सोचता हूँ कि ईट्स का कुछ साहित्य अनुवाद रूप में हिंदी को देने का दायित्व मुझपर है मगर

इतना खुशी करूँ कि मैं यादे खुदा करूँ
इस छोटी-सी उमर में मैं क्या-क्या गुना करूँ।

जेम्स ज्वायस और 'यूलिसीज'

(रेडियो वार्ता)

अंग्रेजी भाषा और साहित्य में रुचि रखनेवाला शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसने जेम्स ज्वायस लिखित 'यूलिसीज' का नाम न सुना हो या उसे उसका पता न हो या पढ़ा न हो। संसार के बड़े उपन्यासों में इसकी गणना होगी या नहीं यह बात भी विद्वानों में विवाद का विषय है। फिर भी बीसवीं सदी में जिस पुस्तक ने साधारण पाठक, सुधी जन और समालोचकों का ध्यान सबसे अधिक आकृष्ट किया वह 'यूलिसीज' ही है। योरोपीय भाषाओं में इस पुस्तक के कितने ही अनुवाद हो चुके हैं शायद जापानी में भी हो चुका है। हिन्दी अथवा अन्य किसी भारतीय भाषा में 'यूलिसीज' या उसके किसी अंश अथवा जेम्स ज्वायस की अन्य किसी रचना के अनुवाद का पता मुझे नहीं है। विद्वानों और आलोचकों द्वारा इस पर लिखी पुस्तकों की संख्या सौ के और आलोचना-निबन्धों की संख्या हजार के लगभग पहुँचेगी। इतना मानने में शायद ही किसी को आपत्ति हो कि इस पुस्तक के प्रकाशन के पश्चात् यूरोप की कम से कम अंग्रेजी की उपन्यास कला वही नहीं रह गई जो उसके पूर्व थी। बीसवीं सदी के उपन्यासों का अध्ययन उस समय तक पूर्ण नहीं समझा जायगा जब तक इस पुस्तक की महत्ता पूरी तरह न समझी जाय।

जनता तक इसे पहुँचने के मार्ग में जो बाधाएँ आई उनकी भी एक लम्बी कहानी है। इसके लेखक डबलिन-निवासी थे जो १९०४ में अपनी बाईस वर्ष की अवस्था में अपने कट्टर परिवार, संकीर्णता-विजड़ित रोमन कैथलिक धर्म और परस्पर-विरोधी राजनीतिक दलों में विभक्त अपना देश आयरलैंड से असन्तुष्ट होकर योरोप चले गए थे। वे कभी इटली कभी हंगरी कभी स्विटज़रलैंड और कभी फ्रांस में रहे उन्होंने आधुनिक योरोपीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया उन्होंने वहीं संगीत की शिक्षा भी अखबार चलाने का प्रयत्न किया सिनेमाघर खोला

नाटक आंदोलन में भाग लिया। अंत में वे पेरिस में भाषा के अध्यापक के रूप में व्यवस्थित हुए। साथ ही लेखन का व्यवसाय भी उन्होंने अपनाया। जीविकोपार्जन के विभिन्न साधनों को खोजने अपनाने छोड़ने के संघर्षों में उन्होंने प्रथम महायुद्ध के पूर्व का योरोपीय जीवन देखा उस पर विचार किया और उसे अभिव्यक्ति दी। यही विविधतापूर्ण ज्ञान और अनुभव जेम्स ज्वायस के साहित्य की पृष्ठ भूमि है। 'यूलिसीज' के प्रकाशन से पूर्व इनका एक कविता संग्रह एक कहानी-संग्रह आत्मकथा-शैली में लिखा एक उपन्यास और इब्सन की शैली में लिखा एक नाटक प्रकाशित हो चुका था। इनके इन ग्रंथों से भी यह पता चलता था कि इनका झुकाव साधारण जीवन की कुत्सित वास्तविकताओं की ओर है और नवीनता के साथ आलोचकों और पाठकों का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट हुआ था 'यूलिसीज' ने योरोप और अमरीका के शिक्षित समाज में एक भूकंप ही प्रस्तुत कर दिया।

जेम्स ज्वायस ने यह उपन्यास १९१४ में आरंभ किया और १९२१ में समाप्त किया। यह प्रथम महायुद्ध और उसके पश्चात् का संशय और अनिश्चय का समय था। कभी वे ट्रीस्ट में रहे, कभी ज्यूरिख में और कभी पेरिस में। सात वर्षों में तीन नगरों में घूम-घूमकर लिखा हुआ यह उपन्यास एक बीचे नगर की कहानी है केवल उसके एक दिन की १८ घंटे की बृहस्पतिवार सोलह जून १९ ४ के डबलिन की।

समाप्त होने के पूर्व ही यह अमेरिका के 'दि लिटिलरिव्यू' नामक मासिक में निकलना आरंभ हुआ। इसकी २१ सख्याओं में क़रीब आधा 'यूलिसीज' निकल गया। पाठक देख रहे थे कि यह ऐसा लेखक है जो व्यक्ति और समाज की उन अवस्थाओं की ओर घूरता है जिनकी ओर दृष्टि करना धर्म संस्कृति परंपरा नैतिकता सभ्य समाज की शालीनता और सामाजिक जीवन को सुचारु रूप से चलानेवाली व्यावहारिकता ने वर्जित कर रखा है। लेखक की साफ़ गोई नग्नता बनी नग्नता उच्छृ खलता हुई उच्छृ खलता अश्लीलता घृणित बरसीलता। सहने की सीमा आ पहुँची समाज के ठेकेदारों के कान खड़े हुए, डाक के अधिकारियों ने पत्र की अंतिम चार सख्याऐं ज़ब्त कर ली। आगे प्रकाशन बंद कर दिया गया। प्रकाशक पर मुकद्दमा दायर हुआ और उसपर सौ डालर का जुर्माना ठोंक दिया गया। जैसा है पुस्तक का प्रचार उसके गुण-अवगुणों पर निर्भर

रहता। सरकारी विरोध ने उसका विज्ञापन कर दिया। पाठक उसे पाने-पढ़ने को बेचैन हो गए।

'यूलिसीज' का पहला परिपूर्ण संस्करण पेरिस में १९२२ में प्रकाशित हुआ। दो हजार प्रतियाँ छपी थीं। सोने की तरह इस पुस्तक का तस्कर व्यापार हुआ। कुछ पुस्तकें सौ गुने दाम पर बिकीं। उसी वर्ष लंदन के इगोइस्ट प्रेस ने २००० प्रतियों का एक संस्करण छापा। ५०० प्रतियाँ जो अमरीका भेजी गईं न्यूयार्क के डाक अधिकारियों ने जला डालीं। १९२३ में उसी प्रेस ने ५०० प्रतियों का एक संस्करण फिर निकाला पर उसमें से ४९९ प्रतियाँ फोकस्टन के चुंगी अधिकारियों ने जब्त कर लीं। लगभग दस वर्ष संसार के सभ्य नगरों में इस पुस्तक को रखना जुर्म था। १९३१ में बी० बी० सी० ने आधुनिक साहित्य-वार्ता में जब जेम्स ज्वायस का नाम रखा तो लंदन टाइम्स में उसका विरोध हुआ। चोरी-छिपे जो संस्करण टाइप होते, साइक्लोस्टाइल होते या छपते उनमें स्वार्थियों ने गंदे क्षेपक लगाने आरंभ किए। अधिकारियों, साहित्यकारों, प्रकाशकों, अखबारनवीसों के एक लंबे बहसोमुबाहिसे के बाद सन् १९३३ में जज वूलजी ने अमरीका में इस पुस्तक पर से निषेध हटाया और इसके तीन वर्ष बाद इंग्लैंड में इस पुस्तक का प्रथम प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित हुआ, जिसे सर्वसाधारण बिना रोक-टोक के खरीद सकते थे। परस्पर-विरोधी सम्मतियों का अंबार लग गया और दोनों पक्षों में बोलनेवाले ख्यातिप्राप्त विद्वान और आलोचक थे। एक कहता था यह पैशाचिक पुस्तक है जिसका साहित्य है दुनिया को मूर्ख बनाने का बड़ा भारी षड्यन्त्र है। दूसरा कहता था यह युगान्तरकारी रचना है, सारे समाज की कुत्सितता पर व्यंग्य है, लेखक का ध्येय नैतिक है। पाश्चात्य संसार के दो बड़े लेखक और विद्वान इसके पक्ष में थे, एज़रा पाउंड और टी० एस० इलियट। पाउंड ने ज्वायस की ईमानदारी की सराहना की, इलियट ने उसकी कला-कुशलता की प्रशंसा की। उन्होंने कहा, 'मिल्टन के बाद अंग्रेजी भाषा का इतना ज्ञान रखनेवाला दूसरा लेखक नहीं पैदा हुआ।'

उपन्यास के विषय में इतना सुन लेने के पश्चात् यह उत्सुकता स्वाभाविक है कि इस पुस्तक की कहानी क्या है? और कहानी ही इस पुस्तक में नहीं है। कुछ पात्र-परिस्थितियों को लेकर कहानी कहनेवाले उपन्यासों की परंपरा को

इस उपन्यास में बिलकुल छोड़ दिया है। फ्रायड ने मनोविज्ञान के एक नए स्वर की खोज की थी। हम जो कुछ करते-कहते हैं वह एक कृत्रिम सामाजिक आचार-विचार से नियन्त्रित होने के कारण हमारा सच्चा अभिव्यंजन नहीं है। वह हमारा ऊपरी परिधान है बाहरी दिखावा है हम जो कुछ सोचते हैं हम जो कल्पना करते हैं वह हमारा अधिक स्वच्छ और अधिक सच्चा रूप है। उसको उपचेतन अथवा अवचेतन की प्रक्रिया कहते हैं और जब हमारे ऊपर बाहरी अंकुश नहीं रहता तब हम वही होते हैं इसी से हमारी क्रियाएँ परिचालित होती हैं। जब हमारे उपचेतन और अवचेतन को अपने अनुरूप अभिव्यक्ति नहीं मिलती तब हमारे जीवन के अन्दर तरह-तरह की विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। विकृत व्यक्तियों का समाज सामूहिक विकृतियों को जन्म देता है। क्या हमारे कलाकारों और साहित्यकारों का यह कर्तव्य नहीं कि वे इस अवचेतन का द्वार खोलें और उसमें झाँकें। वह इतने दिनों से बन्द है कि उसके परिष्कार करने की बात तो बाद की है पहले वह बाहर तो निकले। अभी तो हम मानो अपने उपनिषदकार के स्वर में स्वर मिलाकर कहना है कि सत्य का मुख मौन में ढका है ढक्कन को तोड़ दो और सत्य को प्रकट होने दो। जेम्स ज्वायस ने फ्रायड को अपना गुरु मानकर उनके आदेशों पर चेतना की नहर की मोहरी खोल दी और नग्न सत्य कटु सत्य कुत्सित सत्य घृणित सत्य बाहर फूट पड़ा।

उन्होंने चेतना के विभिन्न स्तरों की धाराओं को उन्मुक्त कर दिया। हम वही नहीं हैं जो हम बाहर-बाहर थे हम यह भी हैं या हमारे अंदर यह भी था यह हमें प्रभावित कर रहा था और बहुत अंशों में हम परिचालित भी कर रहा था। क्या इस अनिवार्य सत्य का ज्ञान हमें जगत को अधिक सच्चाई के साथ समझने में सहायक नहीं हो सकता? ज्वायस ने कुछ इसी प्रकार का आदर्श अपने सामने रखकर इस उपन्यास की रचना की है। उन्होंने केवल यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि यूरोप के एक प्रतिनिधि नगर के नागरिकों के अंतस उपचेतन में एक दिन में क्या-क्या लहरें उठती-गिरती हैं और इससे ८०० पृष्ठ भर गए हैं। किसी अमरीकी लेखक ने लिखा है कि हम एक दिन में जितना सोचते हैं या हमारे दिमाग में जितने विचार आते-जाते हैं यदि उनको परिमाण में परिवर्तित किया जा सके तो यह सारा संसार उसमें तिनके की तरह तैरता

पहला सरकारी विरोध ने उसका विज्ञापन कर दिया। पाठक उसे पाने-पढ़ने को बेचैन हो गए।

'यूलिसीज़' का पहला परिपूर्ण संस्करण पेरिस से १९२२ में प्रकाशित हुआ। दो हज़ार प्रतियाँ छपी थीं। सोने की तरह इस पुस्तक का तस्कर व्यापार हुआ। कुछ पुस्तकें सौ गुने दाम पर बिकीं। उसी वर्ष लंदन के इगोइस्ट प्रेस ने २००० प्रतियों का एक संस्करण छापा। ५०० प्रतियाँ जो अमरीका भेजी गईं न्यूयार्क के डाक अधिकारियों ने जला डालीं। १९२३ में उसी प्रेस ने ५०० प्रतियों का एक संस्करण फिर निकाला पर उसमें से ४९९ प्रतियाँ फोकस्टन के चुंगी अधिकारियों ने जब्त कर लीं। लगभग दस वर्ष संसार के सभ्य नगरों में इस पुस्तक को रखना जुर्म था। १९३१ में बी० बी० सी० ने आधुनिक लेखक-वार्ता में जब जेम्स ज्वायस का नाम रखा तो लंदन टाइम्स में उसका विरोध हुआ। चोरी-छिपे जो संस्करण टाइप होते सारस्लो-स्टाइम होम का छपन उनमें स्वार्थियों ने नये क्षेपक लगाने आरंभ किए। अधिकारियों साहित्यकारों प्रकाशकों अखबारनवीसों के एक लंबे बखेड़े के बाद सन् १९३३ में जज वूल्ज़ी ने अमरीका में इस पुस्तक पर से नियंत्रण हटाया और इसके तीन वर्ष बाद इंग्लैंड में इस पुस्तक का प्रथम प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित हुआ जिसे सर्वसाधारण बिना रोक-टोक के खरीद सकते थे। परस्पर-विरोधी सम्मतियों का अंबार लग गया और दोनों पक्षों में बोलनेवाले ख्यातिप्राप्त विद्वान और आलोचक थे। एक कहता था यह पैशाचिक पुस्तक है, घिनौना साहित्य है, दुनिया को भ्रष्ट बनाने का बड़ा भारी षड्यंत्र है। दूसरा कहता था यह युगान्तरकारी रचना है जो समाज की कृत्रिमता पर व्यंग्य है, लेखक का ध्येय नैतिक है। पाश्चात्य संसार के दो बड़े लेखक और विद्वान इसके पक्ष में थे एज़रा पाउंड और टी० एस० इलियट। पाउंड ने ज्वायस की ईमानदारी की सराहना की। इलियट ने उसकी कला-कुशलता की प्रशंसा की। उन्होंने कहा "मिल्टन के बाद अंग्रेज़ी भाषा का इतना ज्ञान रखनेवाला दूसरा लेखक नहीं पैदा हुआ।"

उपन्यास के विषय में इतना सुन लेने के पश्चात् यह उत्सुकता स्वाभाविक है कि इस पुस्तक की कहानी क्या है? और कहानी ही इस पुस्तक में नहीं है। कुछ पात्र-परिस्थितियों को लेकर कहानी कहनेवाले उपन्यासों की परंपरा को

इस उपन्यास ने बिलकुल छोड़ दिया है। फ्रायड ने मनोविज्ञान के एक नए स्तर की खोज की थी। हम जो कुछ करते-कहते हैं वह एक कृत्रिम सामाजिक आचार विचार से नियंत्रित होने के कारण हमारा सच्चा अभिव्यंजन नहीं है। वह हमारा ऊपरी परिधान है बाहरी दिखावा है हम जो कुछ सोचते हैं हम जो कल्पना करते हैं वह हमारा अधिक स्वच्छंद और अधिक सच्चा रूप है। उसको उपचेतन अथवा अवचेतन की प्रक्रिया कहते हैं और जब हमारे ऊपर बाहरी अंकुश नहीं रहता तब हम वही होते हैं इसी से हमारी क्रियाएँ परिचालित होती हैं। जब हमारे उपचेतन और अवचेतन को अपने अनुरूप अभिव्यक्ति नहीं मिलती तब हमारे जीवन में अनेक तरह-तरह की विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। विकृत व्यक्तियों का समाज सामूहिक विकृतियों को जन्म देता है। क्या हमारे कलाकारों और साहित्यकारों का यह कर्तव्य नहीं कि वे इस अवचेतन का द्वार खोल और उसमें झाँकें। वह इतने दिनों से बंद है कि उसके परिष्करण करने की बात तो बाद की है पहले वह बाहर तो निकले। मानो तो हम मानो अपने उपनिषदकार के स्वर में स्वर मिलाकर कहता है कि सत्य का मुख स्वर्ण से ढका है कवच को तोड़ दो और सत्य को प्रकट होने दो। जेम्स ज्वायस ने फ्रायड को अपना गुरु मानकर उसके आदेशों पर चेतना की लहर की साहसी खोल दी और नग्न सत्य कटु सत्य कुत्सित सत्य घृणित सत्य बाहर फूट पड़ा।

उन्होंने चेतना के विभिन्न स्तरों की बाधाओं को उन्मुक्त कर दिया। हम वही नहीं हैं जो हम बाहर-बाहर में हम यह भी हैं या हमारे अन्दर यह भी था यह हमें प्रभावित कर रहा था और बहुत अंशों में हमें परिचालित भी कर रहा था। क्या इस अनिवार्य सत्य का ज्ञान हमें अपने को अधिक सच्चाई के साथ समझने में सहायक नहीं हो सकता? ज्वायस ने कुछ इसी प्रकार का आदर्श अपने सामने रखकर इस उपन्यास की रचना की है। उन्होंने केवल यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि योरोप के एक प्रतिनिधि नगर के नागरिकों के चेतन उपचेतन में एक दिन में क्या-क्या लहरें उठती-गिरती हैं और इससे ८०० पृष्ठ भर गए हैं। किसी अमरीकी लेखक ने लिखा है कि हम एक दिन में जितना बोलते हैं या हमारे दिमाग में जितने विचार आते-जाते हैं यदि उनको परिमाण में परिवर्तित किया जा सके तो यह सारा संसार उसमें तिनके की तरह तैरता

प्रतीत होगा।

उपन्यास की संक्षिप्त रूपरेखा यों है। स्टीफ़ेन डिडलस एक नवयुवक पेरिस से लौटकर डबलिन आता है और इस चिंता में घुलता-फिरता है कि भविष्य में व्यवस्थित होने के लिए वह क्या करे। उसके परिवार में उसकी माता मर चुकी है और वह उसका परिवार-समाज से अलगाव है। बहुत दिनों के पश्चात् आने के बाद वह सब प्रकार के नियंत्रणों से मुक्त, सब प्रकार के पक्ष पात से रहित सब प्रकार के उत्तरदायित्व से हीन सर्वथा तटस्थ होकर अपने नगर को देखता है। एक और नागरिक है अधेड़ लियोपोल्ड ब्लूम उसके एक मात्र पुत्र की मृत्यु हो चुकी है बहुत पहले उसकी पत्नी है भविष्य दोनों के लिये रिक्त है जी रहे हैं जीते जाना काम है। पर ब्लूम को अपने समकालीन मानव धर्म के प्रति जिज्ञासा है लोग जी रहे हैं किस आधार पर जी रहे हैं क्या करते जी रहे हैं। श्रीमती ब्लूम का जीवन बाहर वालों के लिए घटना विहीन भले ही लगे पर उसके उपचेतन में एक पूरी दुनिया है और वह अक्सर दिमाग की पिटारी खोलकर सिनेमा की रील के समान सारा दृश्य देख जाती है। डिडेलस और ब्लूम डबलिन में घूमते हैं और साथ प्रति-क्षण उनके मस्तिष्क में डबलिन के जीवन की जो छाया पड़ती है उसे हम देखते जाते हैं। अन्त में श्रीमती ब्लूम का लंबा दिवा-स्वप्न है और उसी के साथ उपन्यास समाप्त हो जाता है।

कलाकारिता उपन्यास में पर्याप्त है। यूलिसीज होमर का नायक है जो भ्रमणशील है। ज्वायस ने ब्लूम को आधुनिक युग का यूलिसीज बनाया है। वह मानव के उपचेतन में भ्रमण करता है। आप चाहें तो डिडेलस को यूलिसीज के पुत्र टेलीमेकस और मिसेज ब्लूम को यूलिसीज की पत्नी पेनीलापी का प्रतिरूप—विरूप मान सकते हैं—अपने अवचेतन के धागों का ताना-बाना फैलाती हुई।

उपन्यास १८ भागों में है प्रत्येक भाग डबलिन का एक विशेष रूप उपस्थित करता है एक विशेष प्रविधि अपनाता है एक विशेष रंग में रंगीन है शरीर के एक विशेष अंग की ओर संकेत करता है, एक विशेष विषय की चर्चा करता है एक विशेष शैली का प्रतिपादन करता है। धर्म इतिहास भाषाशास्त्र अर्थशास्त्र जीवविद्या रसायन धर्म स्थापत्य साहित्य मशीनरी संगीत राज

नीति चित्रकला वैद्यक मंत्र-तंत्र जीवविद्या विज्ञान यौन शास्त्र—सब की चर्चा है, और मौलिक ढंग से।

उपन्यास साहित्य के विकास में ज्वायस का योगदान मुख्यतया दो रूपों में है। एक तो उन्होंने चेतना की लहर को उन्मुक्त किया। इससे चरित्र-चित्रण का एक नया उपकरण मिला। दूसरे, उन्होंने यह सिद्ध किया कि अभिव्यंजना की मौलिक शैली हमें जीवन के नए अनुभवों को ग्रहण करने में किस प्रकार सहायक सिद्ध हो सकती है।

कला और साहित्य के लिए उपचेतन का प्रयोग कहाँ तक वांछनीय है इस पर हम विचार करना होगा। परन्तु इसके पूर्व हमें कला और साहित्य के अन्तिम लक्ष्य को स्पष्ट कर लेना होगा। केवल पश्चिम की हाँ-में-हाँ मिलाने से हम ठीक परिणामों पर न पहुँच सकेंगे।

१९५१]

सरवेंटीज़ और 'डान क्विकज़ोट'

(रेडियो वार्ता)

मुझे याद पड़ता है कि जब मैं कालेज में पढ़ रहा था उस समय मेरे अध्यापक ने एक दिन मुझसे पूछा कि तुमने 'डान क्विकजोट' पढ़ा है? मैंने कहा "नहीं" और उसपर उन्होंने कहा कि जिसने 'डान क्विकजोट' नहीं पढ़ा उसका आधा जीवन व्यर्थ गया। बात इस तरह कही गई थी कि मेरी उत्सुकता को चाबुक लगी और शीघ्र ही मैंने यह पुस्तक पढ़ डाली। उस समय तो इस पुस्तक से मेरा मनोविनोद ही हुआ पर बाद को उसपर विचार करने का अवसर भी आया और अब मेरी धारणा यह है कि 'डान क्विकजोट' व्यंग-विनोद के लिए भले ही लिखा गया हो उसके अन्दर मानव जीवन के एक गम्भीर तत्त्व पर प्रकाश भी डाला गया है और यही कारण है कि यह पुस्तक देश और काल की सीमा से निकलकर दुनिया में सभी जगह लोकप्रिय बन गई है और शायद सदा ऐसी ही बनी रहेगी।

'डान क्विक्ज़ोट' के लेखक सरवेंटीज़ हैं जिनका पूरा नाम था मिगुएल डि सरवेंटीज़ सावेद्रा। सरवेंटीज़ ने और भी बहुत-कुछ लिखा था पर 'डान क्विक्ज़ोट' ने जैसे सबको ढाँप लिया। आज वे अपनी इसी एक पुस्तक के लेखक के नाम से प्रसिद्ध हैं।

सरवेंटीज़ का जन्म स्पेन के एक कस्बे में सन् १५४७ में हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा मैड्रिड में हुई थी जो उस समय स्पेन में शिक्षा का मुख्य केंद्र था और वहीं पर उन्होंने पढ़ने-लिखने का और पेशा किया था। उन दिनों प्रत्येक शिष्ट नवयुवक को हथियार आदि चलाना भी सीखना पड़ता था। सरवेंटीज़ ने तुर्कों और ईसाइयों के बीच लिपेंटो में होनेवाले समुद्री युद्ध में भाग लिया था और उनका बाँया हाथ नष्ट भया था। परन्तु इसके बावजूद उन्होंने और कई युद्धों में भाग लिया। इन्हीं में से किसी में बंदी बनकर उन्हें पाँच वर्ष अल्जी

रिया में जेल काटनी पड़ी। जेल में उन्होंने बड़ी कठोर यातनाएँ सहीं। निकल भागने के भी कितने ही प्रयत्न किए और अन्त में उनके किन्हीं हितैषियों ने पाँच सौ क्राउन देकर उन्हें मुक्त कराया।

इस प्रकार दस वर्ष के सैनिक जीवन में कटु अनुभवों को संजोकर सरवेंटीज ३४ वर्ष की अवस्था में फिर स्पेन पहुँचे।

हाथ उनका पहले कट चुका था। अब जवानी का जोश भी ठंडा हो चला था। बंदी-जीवन के कष्टों ने उनको जर्जर कर दिया था। इस कारण उन्होंने लेखक बनकर जीविका कमाने का निश्चय किया। इसके बीज उनके सैनिक के दिनों में ही पड़ चुके थे और कुछ विद्वानों की ऐसी राय है कि सरवेंटीज अपने सैनिक जीवन में भी कुछ न कुछ लिखते रहते थे और 'डान क्विकजोट' के कुछ अंश अवश्य ही जेल के अन्दर लिखे गए थे।

स्पेन लौटने के तीन वर्ष बाद एक धनी कन्या से उन्होंने विवाह कर लिया। पर दहेज की रकम उन्होंने तीन ही चार वर्षों में उड़ा दी और धनोपार्जन के लिए नाटक लिखने लगे। कहा जाता है कि उन्होंने बीस-तीस नाटक भी लिखे जो समकालीन स्पेन के रंगमंच पर खेले गए, परंतु रंगमंच पर उनकी प्रतिभा विशेष न निखरी। उन्होंने आरंभ से ही कविता लिखने का भी अभ्यास किया था कई पुरस्कृत भी हुई थीं पर काव्य के क्षेत्र में भी उन्हें कोई विशेष सफलता न मिली। लेखनी के बल पर जीविका कमाने में असमर्थ होकर सरवेंटीज को सरकारी नौकरी भी करनी पड़ी जिसके संबंध में दूर-दूर के नगरों में जाना पड़ता था। इन यात्राओं का लाभ यह हुआ कि उन्होंने अपने देश के समकालीन जीवन और उसके विभिन्न पहलुओं को बड़े गौर से देखा। जीवन के संघर्षों ने उनकी आँखें खोल दी थीं हृदय विशाल कर दिया था उन्होंने जो कुछ देखा उसे उनके कलाकार ने आत्मसात कर लिया और उसके अमर चित्र उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना में अंकित कर दिए।

'डान क्विकजोट' का प्रकाशन १६०५ में हुआ दूसरा भाग १६१५ में निकला। यह पुस्तक किसी ड्यूक को समर्पित की गई थी पर उसने सरवेंटीज को किसी विशेष प्रकार से पुरस्कृत न किया। 'डान क्विकजोट' को किसी प्रकार के पुरस्कार की आवश्यकता ही न थी। वर्ष के अंदर उसके चार संस्करण हुए। नगर-ग्राम सभी जगह उसकी चर्चा फैल गई। बूढ़े-जवान विद्वान कम

पढ़े, सभी को उसने मुग्ध कर लिया। साहित्य का जादू सिर पर चढ़कर जितना
बोलता है उतना कोई और जादू नहीं।

'डान क्विकज़ोट' के प्रकाशन से जहाँ लेखक की भूरि-भूरि प्रशंसा हुई वहाँ
उसके विरोधी भी बहुत-से हो गए। अपनी रचना में 'डान क्विकज़ोट' को केंद्र
बनाकर सरवेंटीज़ ने बहुत-से समकालीन लोगों का मज़ाक उड़ाया था। विरोध
ने प्रमद रूप भी लिया पर सरवेंटीज़ गंभीर बने रहे। उन्होंने कई कहानी-संग्रह
प्रकाशित किए। एक व्यंग्यात्मक काव्य उन्होंने 'वियाज डि पारनेसो' के नाम से
लिखा—'वियाज डि पारनेसो' यानी काव्य मार्ग की यात्रा। उसमें उन्होंने युग
की साहित्यिक-सभा पर गहरा व्यंग्य किया। पर सरवेंटीज़ के व्यंग्य में विनोद
की मात्रा अधिक और कटुता की न्यूनतम हुआ करती थी। सरवेंटीज़ के जीवन
का उत्तर भाग केवल लेखक का जीवन था जिसमें बाहरी चहल-पहल कम होती
है। उनकी मृत्यु १६१६ में हुई—ठीक उसी दिन जिस दिन अंग्रेज़ी के महान्
नाट्यकार और कवि शेक्सपियर की मृत्यु हुई।

अब तक खोज-खोजकर सरवेंटीज़ के जिन ग्रंथों का प्रकाशन किया गया है
उनकी संख्या चालीस से ऊपर होगी। पर, सारा संसार उनकी जिस रचना का
जानता-मानता-पढ़ता है वह 'डान क्विकज़ोट' ही है।

सरवेंटीज़ के समय में एक विशेष प्रकार के उपन्यासों का बड़ा प्रचलन था
जिन्हें 'रोमांस' कहते थे। तुर्कों और ईसाइयों के क्रूसेड नामक युद्ध के पश्चात्
समस्त योरोप में योद्धाओं का एक वर्ग बन गया था जिन्हें 'नाइट' कहते थे।
किसी प्रकार के अधर्म अन्याय के विरुद्ध खड़ा होना उन नाइटों का स्वनियुक्त
कार्य था। रोमांसों में प्राय किसी खलनायक द्वारा किसी सुंदरी के बंदी होने
और किसी नाइट द्वारा उसकी रक्षा की जाने और अन्त में उस सुंदरी और नाइट
के विवाह की कथा होती थी। सरवेंटीज़ ने देखा कि रिनैसंस—पुनर्जागरण के
पश्चात् इस प्रकार के रोमांस पुराने हो गए हैं पर लेखकगण ऐसी ही परि-
स्थितियों पर अपनी कल्पना दौड़ाकर पुस्तकें तैयार कर देते थे। सरवेंटीज़ ने
इन रोमांसों का व्यंग्य करने के लिए 'डान क्विकज़ोट' की रचना की।

'डान क्विकज़ोट' ला मांचा का रहनेवाला एक साधारण नागरिक था। वह
रोमांसों के पढ़ने का बड़ा शौकीन था। धीरे-धीरे उसमें बच्चों की सी भी।
पढ़ते-पढ़ते अपने को ही कथाओं का नायक समझने लगा। उसने गोया मुझे

भी पुराने नाइटों की तरह बख्तर पहन घोड़े पर सवार हो दुष्टों के दमन और गिरीहों की रक्षा के लिए निकलना चाहिए। वह अपने दुबले-पतले घोड़े पर सवार हुआ उसने अपने परदादा का टूटा-फूटा कवच पहना। नाइट के साथ स्क्वायर अर्थात् अनुचर के लिए उसने सैंकोपेंजा को लिया। कल्पना कर ली कि कोई डलसीनिया डेल टोबोसो नाम की सुंदरी है जिसके प्रेम का अधिकारी वह तब बनेगा जब अपने शत्रुओं को पराजित कर लेगा। रोमांसों का युग तो बीत चुका था। पुनर्जागरण ने लोगों की शक्तियाँ जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की ओर आकर्षित कर ली थी। इस देर-आमद नाइट को बहादुरी दिखाने का कहीं अवसर ही न था। पर उसने कल्पना से शत्रु बनाए और उनसे झूठी हाथापाई की और उसे तरह-तरह की उपहासास्पद परिस्थितियों में पड़कर कष्ट उठाना पड़ा। अंत में उसके मित्र सैंमसन कैरासको ने नाइट का वेश बनाकर उसे हराया और उससे वर्ष भर न लड़ने की प्रतिज्ञा कराई। इसी में बीमार होकर डान क्विक्ज़ोट मर गया।

सरवेंटीज़ ने जो व्यंग रोमांसों पर लिखना चाहा था वह जीवन पर ही व्यंग हो गया। अपनी शक्ति की सीमा न समझ हममें से कितने ही समझते हैं कि हम न हों तो न जाने क्या हो जाय। हमीं अपनी कल्पना का जाल बुनते, हमीं उनको तोड़ते हमीं अपनी पीठ ठोंकते हैं। हम सब किसी न किसी रूप में डान क्विक्ज़ोट हैं।

मुझे खेद है कि संपूर्ण डान क्विक्ज़ोट का हिंदी में कोई अनुवाद नहीं है। कोई सज्जन सीधे स्पेनिश से इसका अनुवाद करें तो हिंदी के भंडार की वृद्धि हो।

[१९५०]

प्रेमचंद और 'गोदान'

(रेडियो वार्ता)

'गोदान' प्रेमचंद की अंतिम परिपूर्ण रचना है। यह उपन्यास सन् १९३६ में उनकी मृत्यु के कुछ ही मास पूर्व प्रकाशित हुआ था। इसे समाप्त करने के कुछ ही दिनों बाद उन्होंने एक दूसरा उपन्यास लिखना प्रारंभ कर दिया था जिसका नाम उन्होंने 'मंगल सूत्र' रखा था। लेकिन मौत ने उनके हाथ से अपनी छीन ली और वह रचना अधूरी ही रह गई। प्रेमचंद की लेखनी न थमना जानती थी न थकना जानती थी और यह अक्षरशः सत्य है कि अंग्रेजी उपन्यासकार स्काट के समान उन्होंने अपनी लेखनी मृत्यु-शय्या पर भी अपने साथ रखी और तभी छोड़ी जब उनकी उँगलियों में उसे पकड़ रखने की ताब न रह गई।

'गोदान' शब्द का अर्थ है ब्राह्मण को गौ का दान करना। हिंदुओं में यह एक बहुत पुरानी और बहुप्रचलित प्रथा है कि मरणासन्न व्यक्ति से ब्राह्मण को गौ का दान कराया जाता है। ऐसा विश्वास है कि इस प्रकार से दी गई गाय मरे हुए आदमी की आत्मा की परलोक-यात्रा में सहायक सिद्ध होती है।

'गोदान' के प्रकाशित होने के चंद दिन बाद ही प्रेमचंद की मृत्यु हो जाने से इस रचना को एक प्रतीकात्मक महत्व प्राप्त हो गया। यह प्रेमचंद का अंतिम ग्रंथ या अंतिम कार्य था जो उन्होंने साहित्य-संसार से विदा लेने के पूर्व संपादित किया। वास्तव में साहित्य के संसार में ही वे अधिक स्वाभाविकता अधिक मिलनसारी और अधिक स्वच्छंदता के साथ विचरण करते थे। खरीद-फ़रोख्त और लेन-देन की दुनिया के लिए वे अजनबी थे। मरते हुए व्यक्ति द्वारा दी गई गौ उसकी जीवात्मा की परलोक-यात्रा में सहायक सिद्ध होती है या नहीं इसे कोई नहीं बता सकता। कम-से-कम मैं नहीं बता सकता।

लेकिन यह निर्विवाद है कि 'गोदान' प्रेमचंद को हिंदी के सबसे बड़े उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित करने में सहायक सिद्ध हुआ। अपने जीवन काल में वे 'उपन्यास-सम्राट' कहे जाते थे। शायद एक बार यह विवाद भी उठा था कि 'कवि-सम्राट' की समानता पर उन्हें 'उपन्यासकार-सम्राट' कहना चाहिए। यदि इस रूपक को थोड़ा और आगे बढ़ाना अनुचित न समझा जाए तो मैं कहना चाहूँगा कि यदि प्रेमचंद उपन्यास या उपन्यासकार-सम्राट थे तो 'गोदान' उनका मौर-मुकुट था। 'गोदान' प्रेमचंद की अंतिम रचना ही नहीं उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना भी है।

यह बात तो प्रेमचंद के साधारण पाठक पर भी जाहिर हुए बगैर न रहेगी कि 'गोदान' के कथानक चरित्र-चित्रण वातावरण अथवा लेखक के दृष्टिकोण में कोई ऐसी चीज नहीं है जो बिल्कुल नई कही जा सके जो पहले कभी नहीं थी और जो यहाँ पहली बार रखी गई है। पुस्तक हाथ में लेने के समय से लेकर पुस्तक समाप्त कर रख देने के समय तक आपको बराबर यह अनुभव होता है कि आप प्रेमचंद की दुनिया में घूम रहे हैं। आपको शुरू से यह पता रहता है कि उनकी कहानी कैसे आगे बढ़ेगी और समाप्त होगी उनके पात्र किस प्रकार का व्यवहार करेंगे और कैसे विकसित होंगे लेखक हमें किस ओर ले जा रहा है, किनके प्रति वह हमारी संवेदनाएँ जगाने जा रहा है, किनके प्रति हमारी घृणा उभारने। 'गोदान' को किसी भी अर्थ में हम कोई नया कदम नहीं कह सकते। वस्तुतः 'गोदान' में उसी तकनीक और आदर्श की परिपक्वता और पुष्टि है जिसे प्रेमचंद ने अपने कलाकार और मानव के जीवन में शुरू से अपनाया और ऊपर उठाया था। संभवतः अपने साहित्यिक और साथ ही अपने भौतिक जीवन को समाप्त करने के पूर्व उन्होंने अपने को परिपूर्णता से एक उपन्यास में रख देने का प्रयत्न किया था—अपने कलाकार को भी मानव को भी और उसी की परिणति 'गोदान' में हुई।

इस उपन्यास के ग्रामीण तथा नागरिक पात्रों की भीड़ में घुसकर—जिनसे मैं मिला हूँ परिचित हुआ हूँ जिन्हें मैंने पहचाना-समझा है—जब मैं किसी प्लाट अथवा कथानक को खोजने का प्रयत्न करता हूँ तो मैं अपने-आप को असफल ही पाता हूँ। एक तरह से होरी को हम इस उपन्यास का नायक कह सकते हैं। मध्य-वयस्क होरी एक ऐसे गाँव का गृहस्थ है जो एक बड़े नगर से

बहुत दूर नहीं है। उसके पास थोड़ी-सी जमीन है जिसपर वह अपने परिवार के सदस्यों की सहायता से काम करता है और जो उसके भरण-पोषण का एक-मात्र साधन है। होरी का जीवन उस लंबे संघर्ष की कहानी है जो उसे अपने परिवार के साथ समाज के ठेकेदारों मिल बढ़े चालेवाले व्यक्तियों सूदखोर साहूकारों पुलिस के हुक्कामों कपट चट पटवारियों और जमींदार के गुर्गों के विरुद्ध छेड़ना पड़ता है—और निश्चय ही ग़रीबी के विरुद्ध भी जो भारतीय किसान का सबसे बड़ा अभिशाप है। स्वाभाविक है कि कृषि-निर्भर समाज में गाय समृद्धि का प्रतीक बन गई है और होरी की महत्त्वाकांक्षा है अपने घर एक अच्छी गाय रखने की। वह उसके घर आती है परंतु मूम-मरीचिका बनकर और शीघ्र ही तिरोहित हो जाती है। अपनी मृत्यु-शय्या पर वह ब्राह्मण को जो दान देता है वह गाय नहीं है वह उसका प्रतीक मात्र है थोड़ा-सा पैसा जो उसकी अंतिम बचत है।

जिसकी पीठ के बीच में सीधी रीढ़ नहीं है वह संघर्ष नहीं कर सकता। और होरी की पीठ में वह है और निश्चय ही वह बहुत चौड़ी है। यह क्या चीज है? ईश्वर में विश्वास? चरित्र की पवित्रता? ईमानदारी? सच्चाई? दृढ़ता? आशा? या और कोई नैतिक गुण जो साधारण उपदेशकों की सूची में स्थान पाता है अथवा धर्म-स्मृति की पावन पोथियों में बताया जाता है? मुझे क्षमा किया जाय यदि मैं कहूँ कि इनमें से कोई भी नहीं। होरी के सारे काम सिर्फ एक बात से निर्दिष्ट होते हैं केवल एक धारणा पर आधारित हैं एकमात्र विचार से प्रेरित हैं जिसे वह 'मरजाद' कहता है जो अक्सर उसकी जबान पर रहता है वस्तुतः जो गाँव के सभी लोगों की जीभ पर रहता है। गाँव का प्रत्येक व्यक्ति इसकी व्यापकता इसकी अपरिहार्यता इसकी उपयोगिता से—शायद सीमा में भी—परिचित है। हर व्यक्ति इसके आगे नतमस्तक होता है और जब कभी कोई व्यक्ति अपनी किसी दुर्बलता अथवा किसी दुर्निवार्य परिस्थितिवश ऐसा करने में असमर्थ रहता है तब उस इस बात की चेतना रहती है कि उसने कुछ ऐसा किया है जो गलत है अनुचित है अशोभन है। और मैंने अक्सर यह सोचने का प्रयत्न किया है कि इस शब्द से मतलब क्या है? इससे गाँव के लोग समझते क्या हैं?

मेरे विचार से इसका मतलब है इंसान की इंसानियत आदमी की आद

नियत मनुष्य की मनुष्यता मानव की गरिमा। जब कभी होरी कहता है कि यह मरजाद नहीं है, तब उसका मतलब होता है कि यह मनुष्य को शोभा नहीं देता। मनुष्य से जो प्रत्याशित है उसकी एक सीमा है एक स्तर है। उससे बाहर जाने पर नीचे गिर जाने पर मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता।

प्रेमचन्द का जन्म और पालन-पोषण गाँव में हुआ था और उन्होंने मात्र प्रबल दृष्टि भावी कलाकार की रागात्मक संवेदना से भारतीय किसान के दैन्य दुख संकट, कष्ट और अपमान ग्लानि को देखा-समझा था। और वे उस दृढ़ संघर्ष के भी साक्षी थे जो वह उन सबके विरुद्ध अपने जीवन भर करता रहता है। प्रेमचन्द ने अपनी आँखों से देखा था कि हमारे गाँव छोटे मोटे नरक हो गए हैं और इस बात पर आश्चर्य किया था कि वे अब तक नष्ट भ्रष्ट हो धूल्य में विलीन क्यों नहीं हो गए। उन्हें आभास हुआ कि हमारे गाँवों ने कुछ भी खोया हो सब कुछ खोया हो एक चीज उन्होंने नहीं खोई थी— मूल्यों में आस्था मानव-मूल्यों में आस्था—मानव-गरिमा म आस्था—एक शब्द में मरजाद। उनके मन में यह बात बैठ गई थी कि हो-न-हो इसी ने उन्हें अतीत काल में सहारा दिया था और उन्हें विश्वास हो गया था कि यही उन्हें भविष्य में उबारेगी भी। मेरी दृष्टि म होरी इसी विश्वास और इसी आशा का प्रतीक बनकर हमारे सामने खड़ा है।

एक पक्ष का दूसरे पक्ष से सतुलित रखना उपन्यासकार की बड़ी पुरानी तरकीब है उपन्यासकार की ही क्यों सभी कलाकारों की है। कुछ लोग कह सकते हैं कि नागरिक पात्रों का वर्ग—मेहता खन्ना तनखा मिर्जा मालती का—केवल इसलिए लाया गया है कि ग्रामीण पात्रों के—होरी भोला गोबर, मातादीन बनिया और धुनिया के बल क लिए पृष्ठभूमि का काम दे सके जिसमें कि इस वैपरीत्य से वे अधिक उभरकर हमारे सामने आएँ। नागरिक पात्रों के वर्ग को लाने में केवल इतना देखना उपन्यासकार के इस बड़े उद्देश्य से अनभिज्ञ रह जाना है, जो संभवतः उसके मन में था।

गाँव के लोग भौतिक दृष्टि से गरीब हैं दुखी हैं लेकिन मानव-मूल्यों में उनकी आस्था है अथवा वे मानव-मूल्यों से सम्पन्न हैं। बाहर के लोग भौतिक दृष्टि से सम्पन्न हैं कुछ के पास धन की खानि है लेकिन या तो उन्होंने मानव मूल्यों में आस्था खो दी है अथवा उनमें अचेत हैं नैतिक मूल्यों से मूल्या से

बहुत दूर नहीं है। उसके पास थोड़ी-सी ज़मीन है जिसपर वह अपने परिवार के सदस्यों की सहायता से काम करता है और जो उसके भरण-पोषण का एक-मात्र साधन है। होरी का जीवन उस लंबे संघर्ष की कहानी है जो उसे अपने परिवार के लोगों, समाज के ठेकेदारों, मित्र कहे जानेवाले व्यक्तियों, सूदखोर साहूकारों, पुलिस के हुक्कामों, कपट-भ्रष्ट पटवारियों और ज़मींदार के गुर्गों के विरुद्ध छेड़ना पड़ता है—और निश्चय ही ग़रीबी के विरुद्ध भी, जो भारतीय किसान का सबसे बड़ा अभिशाप है। स्वाभाविक है कि कृषि निर्भर समाज में गाय समृद्धि का प्रतीक बन गई है और होरी की महत्वाकांक्षा है अपने घर एक अच्छी गाय रखने की। वह उसके घर आती है परंतु मृग-मरीचिका बनकर और शीघ्र ही तिरोहित हो जाती है। अपनी मृत्यु-शय्या पर वह ब्राह्मण को गोदान देता है, वह गाय नहीं है, वह उसका प्रतीक मात्र है, थोड़ा-सा पैसा जो उसकी अंतिम बचत है।

जिसकी पीठ के बीच में सीधी रीढ़ नहीं है वह संघर्ष नहीं कर सकता। और होरी की पीठ में रीढ़ है और निश्चय ही वह बहुत पोढ़ी है। यह क्या चीज़ है? ईश्वर में विश्वास? चरित्र की पवित्रता? ईमानदारी? सच्चाई? दृढ़ता? साहस? या और कोई नैतिक गुण जो साधारण उपदेशकों की सद्-सूची में स्थान पाता है अथवा धर्म-स्मृति की पावन पोथियों में बखाना जाता है? मुझे क्षमा किया जाय यदि मैं कहूँ कि इनमें से कोई भी नहीं। होरी के सारे काम सिर्फ एक बात से निर्दिष्ट होते हैं, केवल एक धारणा पर आधारित हैं, एकमात्र विचार से प्रेरित हैं, जिसे वह 'मरजाद' कहता है जो अक्सर उसकी ज़बान पर रहता है, वस्तुतः जो गाँव के सभी लोगों की जीभ पर रहता है। गाँव का प्रत्येक व्यक्ति इसकी व्यापकता, इसकी अपरिहार्यता, इसकी उपयोगिता से—शायद सीमा से भी—सचेत है। हर व्यक्ति इसके आगे नतमस्तक होता है और जब कभी कोई व्यक्ति अपनी किसी दुर्बलता अथवा किसी दुर्निवार्य परिस्थितिवश ऐसा करने में असमर्थ रहता है तब उसे इस बात की चेतना रहती है कि उसने कुछ ऐसा किया है जो ग़लत है, अनुचित है, अशोभन है। और मैंने अक्सर यह जानने का प्रयास किया है कि इस शब्द के मतलब क्या हैं? इससे गाँव के लोग समझते क्या हैं?

मेरे विचार से इसका मतलब है ईमान की इंसानियत आदमी की आर

नियत मनुष्य की मनुष्यता मानव की गरिमा। जब कभी होरी कहता है कि यह मरजाद नहीं है तब उसका मतलब होता है कि यह मनुष्य को शोभा नहीं देता। मनुष्य से जो प्रत्याशित है उसकी एक सीमा है एक स्तर है। उससे बाहर जाने पर नीचे गिर जाने पर मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता।

प्रेमचन्द का जन्म और पालन-पोषण गाँव में हुआ था और उन्होंने भाव प्रवण दृष्टि भावी कलाकार की रागात्मक संवेदना में भारतीय किसान के सब दुख सकट कष्ट और अपमान ग्लानि को देखा-समझा था। और वे उस दृढ़ संघर्ष के भी साक्षी थे जो वह उन सबके विरुद्ध अपने जीवन भर करता रहता है। प्रेमचन्द ने अपनी आँखों से देखा था कि हमारे गाँव छोटे-मोटे नरक हो गए हैं और इस बात पर आश्चर्य किया था कि वे अब तक नष्ट भ्रष्ट हो शून्य में विलीन क्यों नहीं हो गए। उन्हें आभास हुआ कि हमारे गाँवों ने कुछ भी खोया हो सब कुछ खोया हो एक चीज उन्होंने नहीं खोई थी—मूल्यों में आस्था मानव-मूल्यों में आस्था—मानव-गरिमा में आस्था—एक शब्द में मरजाद। उनके मन में यह बात बैठ गई थी कि हो-न-हो इसी ने उन्हें अतीत काल में सहारा दिया था और उन्हें विश्वास हो गया था कि यही उन्हें भविष्य में उबारेगी भी। मेरी दृष्टि में होरी इसी विश्वास और इसी आशा का प्रतीक बनकर हमारे सामने खड़ा है।

एक पक्ष को दूसरे पक्ष से अनुस्थित रखना उपन्यासकार की बड़ी पुरानी तकनीक है उपन्यासकार की ही क्यों सभी कलाकारों की है। कुछ लोग यह समझते हैं कि नागरिक पात्रों का वर्ग—मेहता खन्ना मालती मिर्जा मालती का—केवल इसलिए लाया गया है कि ग्रामीण पात्रों के—होरी धनिया गोबर, मातादीन धनिया और मुखिया के वर्ग के लिए पृष्ठभूमि का काम दे सके, जिससे कि इस वैपरीत्य से वे अधिक उभरकर हमारे सामने आएँ। नागरिक पात्रों के वर्ग को मानने में केवल इतना देखना उपन्यासकार के उस बड़े उद्देश्य से अनभिज्ञ रह जाना है जो संभवतः उसके मन में था।

गाँव के लोग भौतिक दृष्टि से गरीब हैं दुखी हैं लेकिन मानव-मूल्यों में उनकी आस्था है अथवा वे मानव-मूल्यों से सचेत हैं। शहर के लोग भौतिक दृष्टि से संपन्न हैं कुछ के पास धन की शक्ति है लेकिन या तो उन्होंने मानव मूल्यों में आस्था खो दी है अथवा उनसे अचेत हैं नैतिक मूल्यों में मूल्यों से

ही। पहले वर्ग के लोग भौतिक सुविधाओं को तरस रहे हैं दूसरे वर्ग के लोग नैतिक मूल्यों के अभाव में बेचैन हैं। मानसी को तब तक मानसिक शांति नहीं मिलती जब तक कि वह नैतिक मूल्यों को नहीं अपना लेती। जन साधारण के प्रति संवेदना दीनों की सेवा असहायों की सहायता इन्हीं से उद्भूत होती है।

प्रेमचंद के 'गोदान' में गाँव के एक वर्ग का नगर के एक वर्ग से जो अंतर दिखलाया गया है, वह उस महान अंतर का प्रतीक मात्र है जो हम आज के संसार में बहुत बड़े पैमाने पर देख रहे हैं। एक तरफ पश्चिम है—धन-धान्य से भरा-पूरा—लेकिन उसमें मानव-मूल्यों के प्रति आस्था का अभाव है। दूसरी ओर पूर्व है एशियाटिक के युग का 'समृद्ध पूर्व' (रिच ईस्ट) नहीं गरीबी का प्रतीक—जो अपने भौतिक अभावों में भी विश्वास और आशा के साथ कतिपय मानव एवं नैतिक अथवा जीवन के आधार-भूत मूल्यों से चिपका हुआ है। कुछ समय हुए, मैं एक पुस्तक पढ़ रहा था जिसकी हाल में परिचय में काफी चर्चा हुई है—'अमेरिका नीड्स एन आइडियालोजी' (अमरीका को सिद्धांत की आवश्यकता है)। एक ओर से प्रतिध्वनि सी आई 'इंडिया नीड्स ए बैंक-बलेंस' (भारत को पूँजी की आवश्यकता है)। क्या एक-दूसरे की कीमत है? क्या एक-दूसरे में लेन-देन संभव है? और अपनी अंतर्दृष्टि से प्रेमचंद ने 'गोदान' में जो समस्या खड़ी की है वह आधुनिक संसार की समस्या है और ये प्रश्न आज हर जगह पूछे जा रहे हैं। क्या दुनिया इन प्रश्नों का उत्तर देगी इस समस्या को हल करेगी?

[१९५७]

पंत और 'कला और बूढ़ा चाँद'

मेरी शिक्षा-दीक्षा कुछ इस प्रकार हुई कि मैं कविता का प्रेमी बन गया। संस्कार और परिस्थितियों के कारण जीवन के साथ मनमाने जो शौक-व्यसन लग जाते हैं या लगा लिए जाते हैं कभी-कभी उनपर आगे चलकर पछतावा भी होता है। अपने काव्य-प्रेम के कारण मुझे पछताने का अवसर नहीं आया। उलटे, आज जिन दो बातों के लिए मैं परमात्मा को सबसे अधिक धन्यवाद देता हूँ उनमें काव्य प्रेम का नंबर दूसरा है। पहला न बताऊँगा बहुत निजी है।

शुभ है तूने मुझे कविता का प्रेम दिया। दुनिया में बहुत-से शौक समय के साथ घट भी जाते हैं मेरा काव्य-प्रेम नहीं घटा। कविता की कोई पुस्तक देखकर, मैं उसे पढ़ने को लालायित हो उठता हूँ—खरीदकर, माँगकर, चुरा-कर। पिछली दो नौबतें भी कम नहीं आईं। और परमात्मा से मेरी एक शिकायत भी है कि उसने मुझे कभी इतना पैसा नहीं दिया कि कविता की जितनी पुस्तकें चाहूँ खरीद सकूँ और जितना चाहूँ उतना दूध पी सकूँ। मधुपायी तो मैं कागजी भर हूँ दिलदादा तो मैं दूध का ही हूँ। कभी-कभी तो ऐसी भाषाओं के काव्य संग्रहों को भी खरीदने का मेरा जी करता है जिन्हें मैं नहीं समझ सकता। दूकान या पुस्तकालय में उनपर हाथ फेर चुपचाप रख देता हूँ—यह रस मेरे लिए नहीं है।

मेरे विद्यार्थी-जीवन में शिक्षकों और परीक्षकों का एक बड़ा घिसा-पिटा विषय था जिसपर वे निबंध लिखाते थे पर्चों में सवाल रखते थे और मौखिक परीक्षाओं में भी प्रश्न करते थे—हू इज योर फ़ेवरिट पोएट? तुम्हारा प्रिय अथवा पसंद का कवि कौन है? उस समय ऐसे प्रश्न का उत्तर देने की योग्यता मुझमें क्या रही होगी। आज अगर वे लोग मुझसे यह प्रश्न पूछें तो मैं शायद अधिक परिपक्व निर्णय और आत्मविश्वास के साथ उनको उत्तर दे सकता। मैंने विशेष अध्ययन अंग्रेजी और हिंदी काव्य का किया। अंग्रेजी के पुराने

ही। पहले वर्ग के लोग भौतिक सुविधाओं को तरस रहे हैं, दूसरे वर्ग के लोग नैतिक मूल्यों के अभाव में बेचैन हैं। मालती को तब तक मानसिक शांति नहीं मिलती जब तक कि वह नैतिक मूल्यों को नहीं अपना लेती। जन साधारण के प्रति संवेदना, दीनों की सेवा, असहायों की सहायता इन्हीं से अनुभूत होती है।

प्रेमचंद के 'गोदान' में गांव के एक वर्ग का नगर के एक वर्ग से जो अंतर दिखलाया गया है, वह उस महान अंतर का प्रतीक मात्र है जो हम आज के संसार में बहुत बड़े पैमाने पर देख रहे हैं। एक तरफ पश्चिम है—धन-धान्य से भरा-पूरा—लेकिन उसमें मानव-मूल्यों के प्रति आस्था का अभाव है। दूसरी ओर पूर्व है एशियाखंड के युग का 'समृद्ध पूर्व' (रिच ईस्ट) नहीं गरीबी का प्रतीक—जो अपने भौतिक अभावों में भी विश्वास और आशा के साथ कतिपय मानव एवं नैतिक अथवा जीवन के आधार भूत मूल्यों से चिपका हुआ है। कुछ समय हुए, मैं एक पुस्तक पढ़ रहा था जिसकी हाल में पश्चिम में काफी चर्चा हुई है—'अमेरिका नीड्स एन आइडियालोजी' (अमरीका को सिद्धांत की आवश्यकता है)। एक ओर से प्रतिध्वनि-सी आई 'इंडिया नीड्स ए बैंक-बैलेंस' (भारत को पूंजी की आवश्यकता है)। क्या एक-दूसरे की दुश्मन हैं? *क्या एक-दूसरे में लेन-देन संभव है? और अपनी अंतर्दृष्टि से प्रेमचंद* ने 'गोदान' में जो समस्या खड़ी की है वह आधुनिक संसार की समस्या है और ये प्रश्न आज हर जगह पूछे जा रहे हैं। क्या दुनिया इन प्रश्नों का उत्तर देगी इस समस्या को हल करेगी?

(१९५७)

पंत और 'कला और बूढ़ा चाँद'

मेरी शिक्षा-दीक्षा कुछ इस प्रकार हुई कि मैं कविता का प्रेमी बन गया। संस्कार और परिस्थितियों के कारण जीवन के साथ अनजाने जो शौक-शौ लग जाते हैं या लगा लिए जाते हैं कभी-कभी उनपर आगे चलकर पछताना भी होता है। अपने काव्य प्रेम के कारण मुझे पछताने का अवसर नहीं आया उल्टे, आज जिन दो बातों के लिए मैं परमात्मा को सबसे अधिक धन्यवाद देता हूँ उनमें काव्य प्रेम का नंबर दूसरा है। पहला न बताऊँगा बहुत निजी है। शुक्र है तूने मुझे कविता का प्रेम दिया। दुनिया में बहुत-से शौक समय के साथ घट भी जाते हैं मेरा काव्य-प्रेम नहीं घटा। कविता की कोई पुस्तक देखकर मैं उसे पढ़ने को लालायित हो उठता हूँ—खरीदकर, माँगकर, चुरा कर। ज़िन्दगी से सौगातें भी कम नहीं पाईं। और परमात्मा से मेरी एक शिकायत भी है कि उसने मुझे कभी इतना पैसा नहीं दिया कि कविता की जितनी पुस्तकें चाहूँ खरीद सकूँ और जितना चाहूँ उतना दूध पी सकूँ। मधुपायी तो मैं कागजी पर हूँ पियक्कड़ तो मैं दूध का ही हूँ। कभी-कभी तो ऐसी भाषाओं के काव्य संग्रहों को भी खरीदने का मेरा जी करता है जिन्हें मैं नहीं समझ सकता। दुकान या पुस्तकालय में उनपर हाथ फेर चुपचाप रख देता हूँ—यह रस मेरे [illegible]ताप नहीं है।

मेरे विद्यार्थी-जीवन में शिक्षकों और परीक्षकों का एक बड़ा घिसा-पिटा विषय था जिसपर वे निबंध लिखाते थे पर्चों में सवाल रखते थे और मौखिक परीक्षाओं में भी प्रश्न करते थे—हू इज़ योर फ़ेवरिट पोएट? तुम्हारा प्रिय अथवा पसंद का कवि कौन है? उस समय ऐसे प्रश्न का उत्तर देने की योग्यता मुझमें क्या रही होगी। आज अगर वे लोग मुझसे यह प्रश्न पूछें तो मैं शायद अधिक परिपक्व निर्णय और आत्मविश्वास के साथ उनको उत्तर दे सकता। मैंने विशेष अध्ययन अंग्रेज़ी और हिंदी काव्य का किया। अंग्रेज़ी के पुराने

कवियों में शेक्सपियर और आधुनिक कवियों में ईट्स को और हिंदी के पुराने कवियों में तुलसीदास और आधुनिक कवियों में सुमित्रानंदन पंत को मैं अपना 'फेवरिट' कवि कह सकता हूँ। 'पसंद के' और 'प्रिय' से फ़ेवरिट मुझे कुछ अधिक सूक्ष्म अर्थ देता है, इसी कारण मैंने इस शब्द का प्रयोग किया है। 'फ़ेवरिट' बनाने में किसी कवि के बड़े-छोटे होने का प्रश्न नहीं उठता, हालाँकि शेक्सपियर और तुलसीदास के बड़प्पन के आगे प्रश्न-चिह्न कौन लगाएगा, पर ईट्स और पंत के संबंध में उनसे बड़े आधुनिक कवियों की कल्पना की जा सकती है।

पंत जी की प्रथम प्रकाशित कृति 'उच्छ्वास' मैंने १९२२ में खरीदी थी। तब से आज तक उनकी सभी नई कृतियाँ मैंने प्रकाशित होते ही पढ़ी हैं। उनकी प्रत्येक रचना में मुझे एक विशेष प्रकार की नवीनता मिली है—भाव-विचारों का कोई नया स्तर, जन-जीवन-काल के प्रति कोई अभिनव प्रतिक्रिया। यह बात और है कि किन्हीं रचनाओं में किसी मन-स्थिति की एकता अथवा ठहराव के कारण कुछ साम्य भी हो—जैसे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में या 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्णधूलि' में। वैसे पंत जी में ठहराव की स्थिति अधिक समय तक नहीं रहती। किसी बड़े अर्थ में नहीं वे सतत प्रगतिशील कवि हैं। उनकी हर कृति नई दिशा या नए मोड़ का संकेत भले ही न दे, पर नई मंज़िल पर पहुँचने का सबूत निर्विवाद रूप से देती है। हमें यह न भूलना चाहिए कि सृजन की दिशा समतल ही नहीं होती, ऊर्ध्व भी होती है। अगर वे कहीं आगे नहीं बढ़े तो ऊपर उठे हैं और प्राय: उन्होंने ये दोनों काम साथ किए हैं, आगे भी बढ़े हैं ऊपर भी चढ़े हैं। "मैं यहाँ खड़ा था कल उस थल पर आज नहीं"—उस 'स्तर' पर भी आज नहीं।

पंत जी की नवीनतम कृति 'कला और बूढ़ा चाँद' १९५८ की रचना है जो १९५९ के अंत में प्रकाशित हुई और १९६० के आरम्भ में लोगों के हाथों में पहुँची। डिमाई साइज़ में छपी २०८ पृष्ठों की इस पुस्तक में ९० कविताएँ हैं। पुस्तक इधर उधर उलटते-पलटते ही जिस बात का स्पष्ट आभास होता है वह है इसकी नवीनता—प्रत्याशित नवीनता नहीं अप्रत्याशित नवीनता, आश्चर्यजनक नवीनता। अपने साठवें वर्ष के काव्य जीवन में पहली बार उन्होंने एक ऐसी शैली में कविताएँ लिखी जिसमें शायद उन्होंने अबतक एक पंक्ति भी नहीं लिखी थी।

शैली का परिवर्तन अपने आप में एक बहुत बड़ी बात है। अपने प्रति ईमानदार और आत्मदानी कवि अथवा कलाकार में शैली का परिवर्तन उसकी जीवनानुभूति में परिवर्तन उसके भाव अथवा विचार-जगत में किसी प्रकार की उथल-पुथल अथवा उसकी किसी आंतरिक शोध अथवा प्राप्ति का अनिवार्य संकेत है। शैली उतनी बाहरी चीज नहीं जितनी प्राय उसे समझ लिया जाता है—उस शैली में न लिखा इस शैली में लिखा। कथ्य और कथन में विषय और शैली में मांस और त्वचा से भी अधिक निकट और सूक्ष्म संबंध है। पंत ऐसे कवि की यह ललक मात्र नहीं हो सकती कि अपने उर-मंदिर में नाचने वाली दासी से सहसा कहें कि अपने छन्दों की पायलें उतार दो। तो, इस बाह्य नवीनता और परिवर्तन के पीछे किसी आंतरिक नवीनता को देखने-समझने की आवश्यकता होगी।

वैसे शैली का नया प्रयोग भी सर्जक की सजीवता ही सिद्ध करता है। सजीव जाति सजीव भाषा सजीव साहित्य नए-नए प्रयोग किया करता है। वह स्वस्थ तभी होता है जब कोई आंतरिक उद्वेलन नई अभिव्यक्ति माँगता है। प्रयोग के लिए प्रयोग मात्र नई पीढ़ियाँ करती हैं—शायद अपनी सृजन प्रवृत्ति की उर्वरता में ही। सृजन भाव से अधिक संयमन है। किसी विदेशी आकांक्षा से किसी प्रवृत्ति का अनुकरण करने के लिए, अथवा सामरयाह लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए—जैसे अब भी उन्हें उसकी आवश्यकता है—पंत जी ने अपना संयम तोड़ दिया हो इसे मैं नहीं स्वीकार कर सकता। चालीस वर्षों तक वाक्-साधना करने के पश्चात् केवल अपनी मानसिक जवानी सिद्ध करने के लिए, शब्दों की उछान-कुदान करना पंत जी के लिए असंभव है। मैं यह मानता हूँ कि पंत जी की नई शैली उनके अंतर में किसी नवीन प्रस्फुटन का प्रतिफलन है।

मेरा अनुमान है कि अगर आपने आलोच्य कृति नहीं देखी तो अब तक इस शैली की रचना के लिए आपकी जिज्ञासा जाग गई होगी। दो कविताएँ यहाँ उद्धृत करना अनुचित न होगा—एक लम्बी एक छोटी।

मधुछत्र

ओ मधुमाखियो
यह सोने का मधु

कहाँ से आई ?
वे किस पार के वन से
उग खिले फूल ?
जिनकी पंखुड़ियाँ
अंजलियों की तरह
अनंत काम के लिए
खुली रहती हैं !
किसने स्रष्टा
स्वप्न द्रष्टा
चितवन तूली से
उनके रूप रंग अंकित कर आए !
फूलों के हार
फूलों के स्तबक सँजोकर
उन्होंने
कुम्हलाई हारें मनाई !
रूप के प्यासे नयन
मधु नहीं चीन्ह सके !
ओ सोने की डाली
तुम मर्म ही में पैठ गईं
स्वर्ग से प्रवन कर
हिमालय-से धवल
शुभ्र मौन को
मुखरित कर गईं !
उस माणिक पुष्पराग के
अमृत कटोरों में
कैसा पावक रहा
हीरक रश्मियों भरा ?—
जिसे छूकर
तुम कर भर आईं !

कौन अरूप गंध तुम्हें
कल का संदेश दे गई?
ओ गीत खगी
ये खोलते पंख मुझे भी तो
भी भाते रहते हैं —
और,
यह मधु की गहरी परख —
मैं भी
मधुपायी उड़ान भरूँगा।
मानवता की रचना
तुम्हारे छत्ते-सी हो!
जिसमें स्वर्ग फूलों का मधु
युवकों के स्वप्न
मानव हृदय की
करुणा ममता —
मिट्टी की सोंधी गंध भरा
प्रेम का अमृत
आँसुओं का रस हो!

मादा घोप

तुम चाहते हो
मैं अधखिली ही रहूँ।
जिससे पर
कुम्हला न जाऊँ,
झर न जाऊँ!

हाय रे दुराशा!
मुझमें
खिलना
कुम्हलाना ही
लिख पाए!

स्वभाव से भावप्रवण और वृत्ति से अभिव्यक्तिप्रिय होने के कारण कवि या कलाकार इस अवचेतन का सबसे बड़ा शिकार होता है। फ्रायड के विचार साहित्य के क्षेत्र में भी घुसे। समालोचना की मनोविश्लेषणात्मक पद्धति चल पड़ी। इसमें कोई संदेह नहीं कि फ्रायड ने कविता समझने की एक नई दिशा दी। फ्रायड के विचार सृजन के क्षेत्र में भी घुसे। जहाँ पहले अवचेतन अनजान सर्जक की अभिव्यक्ति को प्रभावित करता था वहाँ अब वह जान-बूझकर अपने मस्तिष्क की अंध गुहा तमातल में पैठा और वहाँ से सत्य और तथ्य के नाम पर बहुत-सा कूड़ा-कर्कट-कीचड़ निकालकर बाहर फेंकने लगा। पाश्चात्य संसार के और पाश्चात्य संसार के प्रभाव में आए हुए संसार के काव्य में इस अवचेतन से निकाला हुआ बहुत-सा गन्द-मसाला आज बजबजा रहा है। ऐसा करनेवालों के पास विश्वास का बल है सत्य से मुँह कैसे मोड़ सकते हैं, सत्य को आँख फाड़कर देखना होगा। ऐसे ही समय में पूर्व में एक और ऋषि का उदय हुआ उसका नाम अरविंद है। फ्रायड नीचे को धँसे तो अरविंद ऊपर को उठे। फ्रायड ने अवचेतन की खोज की तो अरविंद ने अतिचेतन का साक्षात्कार किया। खोज के परिणाम से जहाँ बहुत-से कवि अवचेतन की ओर झुके वहीं कई कवि अतिचेतन की ओर भी उठे। हिंदी में पंत ही एक मात्र कवि हैं जिन्होंने इस अतिचेतन को अवगाहने के लिए बहुत वर्षों से प्रयत्न किया है। उन्होंने अवचेतन से मुख ही नहीं मोड़ा उसका विरोध भी किया है। उनकी 'शिल्पी' में संसार-संहार के पश्चात् नवमानवों को जो एक प्रतिमा विकृत-विद्रूप युग की मिलती है वह फ्रायड की है

> यह सिर के बल खड़ी मूर्ति है किस नर पशु की?
> मानव के पूर्वज का लगता भाव मूढ़ जो!
> पुच्छ विषाण विहीन भरा बहु रोमों से तन
> हस्त पदी के न हग, भोंडी मुख आकृति
> मत्त वृषभ का था मानस विचरा तन उसका
> कौन पड़ा यह गड्ढ में कीचड़ में डूबा!
>
> किसी मनोविश्लेषक की प्रतिमा लगती यह —
> सीढ़ी-सीढ़ी उतर गहन वासना गर्त में

अवचेतन के अंधकार में भटक गया जो !
ऊर्ध्व श्रेणियाँ छोड़ चेतना की जो निम्नग
निश्चेतन में बिखरा पशु मानस के स्तर पर,
उमड़ प्रवृत्तियों में प्रमत्त इंद्रिय भ्रम पीड़ित
खोज न पाया आत्मस्थिति का पथ अंतर्मुख —
उभरे मोटे ओठों में मांसल दबाए
कुंठाओं की रेखाओं से बर्बर आनन !

अतिचेतन की ओर उठने का यह अध्यवसाय संभवत उन्होंने 'स्वर्णकिरण' की रचनाओं के साथ आरंभ किया था। 'कला और बूढ़ा चाँद' में उसकी बड़ी मनोमय परिणति हुई है। जो बात पहले सिद्धांत या विचार के रूप में आई थी वह कवि की कल्पना का आश्रय पाकर भी थोड़ी शुष्कता के साथ 'स्वर्णकिरण' 'स्वर्णधूलि' में व्यक्त हुई। 'उत्तरा' में वह अधिक भाव-सिक्त होकर आई। आश्चर्य नहीं पंत जी ने स्वयं 'उत्तरा' को सौंदर्य-बोध तथा भाव ऐश्वर्य की दृष्टि से अपनी रचनाओं में सर्वोपरि माना। 'अतिमा' और 'वाणी' न होते हुए 'कला और बूढ़ा चाँद' तक पहुँचते-पहुँचते विचार और भाव सब हो गए, सूक्ष्मानुभूति में बदल गए, जिसे आप चाहे तो सहज स्फुरण सहज प्रज्ञा अथवा दिव्य दृष्टि कुछ भी कह सकते हैं

"जो रचने
तुम्हारे लिए कहाँ से
ध्वनि छंद लाऊँ ?
कहाँ से शब्द भाव लाऊँ ?
सब विचार, सब मूल्य
सब आदर्श मग्न हो गए !

अनुभूतियों को एक सीमा पर शब्द साथ नहीं देते यह साधारण अनुभव 'कला और बूढ़ा चाँद' में भी शब्दों की असमर्थता बार-बार व्यक्त की गई विरोधाभासी अभिव्यक्तियाँ छायावादी काल से ही हिंदी में आ गई थीं। ना में उनका प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। शब्द जैसे एक-दूसरे से र चकनाचूर हो जाते हैं। कवि मौन भी होने को तैयार है। पर जैसे जैसे मौन से भी अनुभूति अनभिव्यक्त ही रहेगी।

न जाए। साधक के ऊपर कलाकार विजयी होता है। वह निश्चय करता है कि वह प्रतीकों में बोलेगा

"मैं शब्दों की
रचनाओं को चीरकर
संकेतों में
प्रतीकों म बोलूँगा।

मजा तो यह है कि चाहे कवि बोध के सर्वोच्च शिखर से अतिचेतन की चोटी से बोले चाहे बोध के तमातल से—अवचेतन की निचली-से-निचली सतह से बोलना होगा प्रतीकों में ही। जिसे अवचेतन की कविता कहा जाता है वह उतनी ही प्रतीक मधुर है जितनी अतिचेतन की कविता। शायद शायद दोनों स्तरों की अभिव्यक्ति देने के लिए चाहिए। शायद दोनों से अच्छी कविता भी लिखी जा सकती है पर जब कविता के द्वारा जीवन को समझने का प्रयत्न किया जाएगा जीवन का उदात्त बनाने की प्रेरणा भी जागेगी तब अवचेतन की सत्ता स्वीकार करते हुए भी अतिचेतना के शिखर पर ही चढ़ना होगा। कविता का अंतिम ध्येय जीवन को उठाना ही हो सकता है। 'पल्लव' में पंत भी स्वयं यह घोषणा करते हुए पाए गे

"अकेली सुन्दरता कल्याणि!
सकल ऐश्वर्यों की संधान!"

'कला और बूढ़ा चाँद' म वे स्पष्ट स्वर में कहते हैं

"शिव की कला ही
सत्य और सुंदर है।"

अवचेतन केवल मात्र-भाष्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण की दुहाई देकर अपना उद्धार अबाध नहीं कर सकेगा। अवचेतन के भूत प्रेत चुड़ैलों डाकिनियों को शिव का अनुयायी होना पड़ेगा। हमारी पौराणिक कथा का यही मम मर्म है।

संक्षेप में 'कला और बूढ़ा चाँद' ऊर्ध्व मूल्यों का काव्य है। इन मूल्यों पर पंत जी 'स्वर्णकिरण' से लेकर शायद एक दूसरे रूप में 'ज्योत्स्ना' से लेकर बराबर लिखते आए हैं 'ज्योत्स्ना' में सर्वप्रथम उनके जीवन-दर्शन में एक बुनियादी बदलाव तैयार किया था। पंत जी ने अपने काव्य-जीवन में बादों से भी बहुत कहा है—विचारों से भी बहुत कहा है—विचारों से जो उन्होंने

कहा है शायद बहुत-से लोग उसे उच्चकोटि की कविता न माने—'कला और बूढ़ा चाँद' में उन्होंने सहज स्फुरण (इनट्यूशन) से कहा है दिव्यदृष्टि से कहा है—द्रष्टा के आत्म-विश्वास से कहा है जैसे हमारे वैदिक ऋषि कहते हैं

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं''—
(मैं इस महत् पुरुष को जानता हूँ)

× × ×

मैंने
हिमालय के
शुभ्र श्वेत मौन को
छूआ

मानस हंस से
छोटा था वह !"

× × ×

"मैं धूप में डूबा
वह स्वच्छ सरोवर निकला
(मैं) रक्त कमल सा खिला।
मेरे अंग अंग
स्वर्ण शुभ्र हो उठे।"

पंत जी केवल कवि नहीं रहे हैं वे बहुत बड़े विचारक भी हैं यह और ात है कि विचारों को पद्यबद्ध करना कविता न माना जाए। पद्य रचना पर पंत जी का इतना जबरदस्त अधिकार है कि अब मैं ऐसा सोचने लगा हूँ कि शायद अपने विचारों को संयमित नियमित संतुलित संक्षिप्त सक्षम और पूर्णतः प्रभावकारी (ब्रेविटी ऐंड स्ट्रेंथ) रखने के ध्येय ही से तो नहीं उन्होंने उन्हें पद्यबद्ध किया! अपने ठोस विचारों को उन्होंने पद्य में भी व्यक्त किया है और पद्य में भी। किसी को किसी दिन इसका अध्ययन करना पड़ेगा कि किस माध्यम स कवि ने थोड़े में अधिक सारगर्भित बात कह दी है। कविर्मनीषी तो पंत जी हले भी थे। 'कला और बूढ़ा चाँद' में उन्हें द्रष्टा कहलाने का भी अधिकारी ना दिया है। अपनी लंबी कविता 'स्वर्णोदय' के नायक में शायद उन्होंने अपना मे का और सबका चित्र अंकित कर दिया है

तरुण रवी ने फैले बहु फूलों के धायक
भेद दृष्टि वह रहा विचारक जनमत नायक
अन्वेषक शोधक निज युग का भाग्य विधायक
धर्म नीति दर्शन मंथन में प्रखर विनायक !"

× × ×

"सहज चेतना से मन उसका हृदय प्रकाशित
आतप-सी वह जिसे न भू रज करती रंजित
दीपक यौवन शिशिर, वसंत उसी में बिम्बित
शुभ्र किरण वह जीवन रोमपुंज में सज्जित"

मैं यह लेख इस विश्वास के साथ समाप्त करना चाहता हूँ कि 'कला और बूढ़ा चाँद' के प्रति आपकी जिज्ञासा बढ़ेगी और आप उसे पढ़ना चाहेंगे। कुतुबमीनार की चोटी पर पहुँचने के लिए बहुत-सी सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं। पंत जी की यह अभिनव कृति उनकी चोटी की रचना है। अगर आप चाहते हैं कि उसका रस आप ले सकें तो आपको सीढ़ी-सीढ़ी ऊपर जाना चाहिए— उनकी प्रथम रचना 'वीणा' से आरम्भ करके। अपना एक रहस्य आपको बताऊँ, पंत जी की जब कोई नई रचना प्रकाशित होती है तो मैं एक बार शुरू से उनकी सारी रचनाओं का पारायण कर उसे पढ़ना आरंभ करता हूँ। और अपनी पिछली रचनाओं के संदर्भ में ही मुझे लगता है उनकी नई रचना पूरा अर्थ देती है।

१९६१]

हमारा राष्ट्रीय गीत[1]

राष्ट्रीय गीत के संबंध में जो चर्चा बहुत दिनों से चल रही है उससे भारतीय जनता भली भांति परिचित है। स्वतंत्र देश के लिए कुछ बाहरी प्रतीकों की आवश्यकता होती है जिससे उस देश का व्यक्तित्व दूसरों से अलग व्यक्त हो सके। इनमें राष्ट्रीय झंडा राष्ट्रीय मुहर और राष्ट्रीय गीत प्रमुख हैं। राष्ट्रीय झंडे के संबंध में निर्णय हो चुका है और वह सबको मान्य भी है। राष्ट्रीय मुहर के लिए अशोक स्तंभ का शिखर पसंद किया गया है और उसका प्रयोग भी हो रहा है। परंतु राष्ट्रीय गीत के संबंध में हम अभी तक किसी अंतिम निर्णय पर नहीं पहुंचे। मैंने अक्सर सुना है कि राष्ट्र-गीत के संबंध में देश के साहित्यकारों और कवियों को अपनी सम्मति देनी चाहिए यह प्रश्न केवल राजनीतिज्ञों पर नहीं छोड़ देना चाहिए। कुछ लोग अधिक आवेश में आकर, प्रायः वे लोग जो अंग्रेजी की तुलना में भारतीय भाषाओं को नगण्य समझते हैं, यह भी कह उठते हैं कि राष्ट्र-भाषा राष्ट्र-भाषा चिल्लाते तो बहुत हो तुमसे इतना भी तो नहीं हो सका कि एक अच्छे राष्ट्र-गीत की रचना कर सको। पहली बात का समाधान तो यों किया जा सकता है कि हमारे देश के साहित्यकार विदेशियों के शासन के समय से ही इतने उपेक्षित रहे हैं, कि उन्हें इस बात का विश्वास ही नहीं रह गया है कि वे जो कुछ अपनी बुद्धि अथवा सुरुचि के अनुसार कहेंगे उसकी कोई कद्र की जायगी। इस कारण वे प्रायः ऐसे मामलों में तटस्थ ही रहते हैं। दूसरी बात के लिए मेरा अपना विचार यह है कि राष्ट्र-गीत के लिए किसी रचना का बहुत उच्च कोटि का होना आवश्यक नहीं है। दुर्भाग्यवश मैं अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के राष्ट्र-गीत नहीं जानता। परंतु मैं पूछना चाहूंगा कि अंग्रेजों के राष्ट्र-गीत में कौन-सा कवित्व है जिसके लिए अंग्रेज जाति के मनीषियों और कवियों

---

१ जनम (प्रताप) ११ १९.४८

में अपना मस्तिष्क खपाया है। लेकिन यह वह गीत है कि जहाँ कहीं भी यह गाया जाता है हर भारतीय अटेनशन पर खड़ा होकर ध्यानस्थ हो जाता है। राष्ट्र-गीत जैसा कि मैंने ऊपर कहा है एक प्रतीक है—एक मूर्ति है—मानो तो देवता नहीं पत्थर। सारी बात मानने की है।

यह मानने की बात जितनी सरल मालूम होती है उतनी सरल नहीं है। सारे देश का देश बिना किसी जोर-दबाव के कोई चीज मान ले यह कोई साधारण बात नहीं है। उस चीज में कुछ तो ऐसा होना ही होगा जो सबके अन्तर को छू सके। एक पीढ़ी के मान लेने के बाद दूसरी पीढ़ी उसे कुल-देवता के समान पूजेगी और उसी के साथ अपनी भावनाएँ संबद्ध करती जायगी पर प्रश्न तो है हमारी वर्तमान पीढ़ी का। हम अवश्य ही एक नवीन भारत की नींव डाल रहे हैं, पर हम सब कुछ नया ही नहीं कर सकते। हम कुछ संस्कार भी लाए हैं। शायद हम उन्हें न भूलें तो अपने भविष्य के निर्माण में अधिक सतर्क और संतुलित रह सकेंगे। राष्ट्र-गीत के संबंध में भी हम कुछ संस्कार लाए हैं। राष्ट्रीय झंडे के संबंध में भी हमारे संस्कार थे। हमने स्वाधीन भारत का झंडा बिल्कुल नए रूप में नहीं खड़ा किया। उसके पुराने रूप में ही थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया है। अगर आवश्यकता हो तो एकदम नई चीज लाने का मैं विरोधी नहीं हूँ परंतु राष्ट्र-गीत के संबंध में मेरी धारणा है कि हम एकदम नया कुछ नहीं ला सकेंगे। कम से कम आइए हम पर थोड़ा-सा विचार तो कर ही लें कि राष्ट्र-गीत के नाम पर हमारी भावनाएँ किन बिंदुओं पर केन्द्रित होती रही हैं।

मुझे क्षमा किया जाए, यदि मैं कुछ व्यक्तिगत चर्चा भी करूँ। मुझे याद आते हैं अपने म्युनिस्पल स्कूल के दिन सन् १९१७-१८ का ज़माना जब हमारे स्कूलों में जार्ज पंचम और क्वीन मेरी की तस्वीर लगी रहा करती थी। उस समय विशेष अवसरों पर एक गीत गाया जाता था। हम सब लोग खड़े हो जाते थे दो-एक स्वच्छ स्वर गाते सहज उसे गाते थे। उस गाने की पहली पंक्ति मुझे अब तक याद है।

"भगवन् हमारे जार्ज पंचम को चिरायु कीजिए।"

हमारे अध्यापक गण बहुत श्रद्धा और आदर से उसे हमें गाना और सुनना सिखलाते थे। यह हमारी दास प्रवृत्ति के अनुरूप था और आनेवाली पीढ़ियाँ

मने ही इस पर अमरल करें परंतु हम जिन्होंने अपनी आधी उमर दासता में काटी है भली भांति उस दबी मनस्थिति का अदाजा कर सकते हैं जिसमें ऐसी बातें समव थी।

सन् १९११ में मैं कायस्थ पाठशाला में आया। यहां स्कूल का काम शुरू होने के पहले बड़े हाल में सब जमा होते थे और 'वंदे मातरम्' का गीत गाया जाता था। उत्सव आदि पर भी हमारी कार्रवाई 'वंदे मातरम्' के गीत से शुरू होती थी और हम सब लोग इस गीत का प्रारंभ होते ही चटपट खड़े हो जाते थे। वहीं मैंने यह सीखा कि यह हमारा राष्ट्र-गीत है। इस संबंध में मुझे एक घटना याद है। स्कूल में तो इस गीत को गाना ठीक था पर हमारे बड़े-बूढ़े इसे बाहर कहीं गाने में भय का अनुभव करते थे। एक दिन मैं अपने घर पर 'वंदे मातरम्' गा रहा था कि मेरे चाचा ने मुझसे कहा "वंदे मातरम् इस तरह गा रहा है, पकड़वाएगा?" मैं कुछ समझ नहीं सका केवल यही ध्यान आया कि यह पूरा गीत जहां-तहां गाने की चीज नहीं इसे गाना सबीरता से गाना चाहिए। बाद को जैसे-जैसे मेरा ज्ञान बढ़ा मैंने वंदे मातरम् आंदोलन के विषय में काफ़ी जाना। तभी से मेरी धारणा थी कि 'वंदे मातरम्' ही हमारा राष्ट्र-गान है। स्वतंत्रता आंदोलनों में कितने ही अवसरों पर सहस्रों कंठों से उठाया गया यह नाद 'कौमी नारा—वंदे मातरम्' आज भी मेरे कानों में गूंज रहा है। यही 'वंदे मातरम्' का इतिहास और संस्कार मेरे मन में था जब मैंने बंगाल के काल पर लिखित अपनी कविता में उसके विषय में भी लिखा था

"वही बंगाल
देख जिसे पुलकित नेत्रों से
भरे कंठ से
गद्गद स्वर में
कवि ने गाया राष्ट्र-गान यह
वंदे मातरम्
सुजलाम् सुफलाम् मलयज शीतलाम्
शस्य श्यामलाम् मातरम्"
वंदे मातरम्"

जो नगपति के उच्च शिखर से
रास कुमारी के पदतल तक
गिरि-गह्वर में
वन प्रांतर में
मरुस्थलों में मैदानों में
खेतों में औ खलिहानों में
गाँव-गाँव में
नगर-नगर में
डगर-डगर में
बाहर-घर में
स्वतंत्रता का महा मंत्र बन
कंठ-कंठ से हुआ निनादित
कंठ-कंठ से हुआ प्रतिध्वनित
जपकर जिसको आजादी के दीवानों ने
कितने ही
दी मिटा जवानी
मिट्टी में काले पानी में
कितनों ने हथकड़ी-बेड़ियों की झन झन पर
जिसको गाया
और सुनाया
मन बहलाया
जब कि दास थे किए गए वे
देश प्रेम का मूल्य चुकाने
कठिन कठोर, घोर कारागारों में
कितने ही जिसको जिह्वा पर लाकर
बिना हिचक के
बिना झिझक के
हँसते-हँसते
झूल गए फाँसी वाले फंदे पर

या कौम खातियाँ खाते हुए
गोली की बौछारों में।"

यह था वंदे मातरम् का संस्कार मेरे मन पर। कायस्थ पाठशाला के दिनों में ही मेरा परिचय 'जनगण मन' वाले रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीत से हुआ। पर इसके साथ किसी प्रकार के राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास की अथवा बलिदान की कहानी नहीं जुड़ी हुई थी। बीच में साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के बढ़ने पर मुस्लिम लीग के द्वारा और फिर प्रायः सभी मुसलमानों के मुँह से यह बात सुनाई पड़ने लगी कि 'वंदे मातरम्' में मूर्तिपूजा की गई है और मूर्ति पूजना इस्लाम के धार्मिक सिद्धांतों के विरुद्ध है इसलिए जहाँ यह गाया जाय वहाँ किसी मुसलमान का उपस्थित नहीं रहना चाहिए। बाद को मुझे भी मालूम हुआ कि 'वंदे मातरम्' का जो भाग हम लोग गाते हैं, वह संपूर्ण गीत न होकर उसका ऊपरी हिस्सा है और आगे चलकर इसी गीत में दुर्गा की उपासना की गई है। दुर्गा पूजा के बंगला विशेषांकों में दुर्गा के चित्र के साथ मैंने यह पूरा गीत छपा देखा भी और तब मन में यह बात भी आई कि मुसलमान जो कहते हैं उसमें कुछ तर्क अवश्य है यद्यपि जो अंश राष्ट्र-गीत के रूप में स्वीकार कर लिया गया है उसमें किसी देवी-देवता की उपासना न होकर भारतमाता की ही वंदना है। मैंने सम्मिलित जलसों में इस गीत के आरम्भ होने पर मुसलमानों को सभा छोड़ते भी देखा। स्वतंत्रता प्रदान उत्सव पर अनेक मुसलमान नेता उस समय सभा में आए, जब 'वंदे मातरम्' का गीत समाप्त हो चुका इनमें मिस्टर खलीकस्समा का नाम पत्रों में भी आया था।

'जनगण मन' वाले रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीत से भी एक इतिहास जुड़ा था। जब युद्ध के समाप्त होने पर श्री सुभाषचन्द्र बोस की आजाद हिन्द फौज की कहानी देश में पहुँची तो सन् ४२ की कुचली हुई जनता में एक बिजली की लहर दौड़ गई। जो कुछ आजाद हिन्द ने किया था वह हमारे लिए कौतूहल और सम्मान का विषय बन गया। आजाद हिन्द के ये नारे थे, ये स्लिप थे ये व्यवहार थे यह झंडा था आदि-आदि। इसी बीच यह बात भी खुली कि आजाद हिन्द सरकार ने 'जनगण मन' को अपना राष्ट्र-गीत मान लिया था। आजाद हिन्द सरकार ने इस गीत का एक हिन्दुस्तानी रूप बना लिया था। इस गीत का प्रचार शीघ्रता से होना शुरू हुआ और जब जिसको

को कि जैसे आज़ाद हिन्द के विद्रोह के साथ हम सब सम्मिलित हैं वही 'जनगण मन' का गीत हर जगह गाया जाने लगा और 'वंदे मातरम्' धीरे-धीरे पीछे पड़ने लगा। उसी समय से हमने 'जय हिन्द' का संपुट स्वीकार किया। पंडित नेहरू ने इसपर एक लेख भी लिखा कि 'वंदे मातरम्' की जगह अब हम परस्पर मिलने पर 'जय हिन्द' कहना चाहिए और वे आज भी अपने समस्त भाषणों में 'जय हिन्द' कहना नहीं भूलते। बताने की आवश्यकता नहीं कि जय हिन्द 'आज़ाद हिन्द' गवर्नमेंट का संपुट था। 'वंदे मातरम्' को छोड़कर श्री सुभाषचन्द्र बोस ने 'जनगण मन' को क्यों राष्ट्र-गीत माना इसे समझना कठिन नहीं है। 'वंदे मातरम्' के साथ मुसलमान मूर्तिपूजा का भाव जोड़ चुके थे। ऐसी फ़ौज में जिसमें हिन्दू-मुसलमान सब सम्मिलित हों वे किसी प्रकार के विवाद अथवा विरोध के लिए तैयार न थे। फिर 'वंदे मातरम्' का गीत संस्कृतमय और कठिन भी था। उन्होंने इतना ही नहीं किया 'जनगण मन' के बंगला रूप को हिन्दुस्तानी रूप भी दिया। ऐसा करने में उस सुन्दर कविता में बहुत-से रचना-दोष भी आ गए। पर जान पर खेलने का समय था शब्दों की ओर ध्यान देने की फ़ुरसत नहीं थी। गीत ने सबकी श्रद्धा समेटी ध्येय सफल हुआ।

आज़ाद हिन्द फ़ौज के विद्रोह के पूर्व यदि राष्ट्र-गीत के नाम से किसी गीत पर ध्यान जा सकता था तो वह 'वंदे मातरम्' ही था। आज 'वंदे मातरम्' के साथ 'जनगण मन' उसका प्रबल प्रतिद्वंद्वी है। दोनों गीतों से जो भावनाएँ जुड़ गई हैं उनकी तुलना करना उचित नहीं है। एक से यदि हमारी श्रद्धा और उमंग जुड़ी हुई है तो दूसरी से हमारा विद्रोह और आज़ादी का पहला सपना जुड़ा हुआ है। एक से यदि हमारा त्याग और बलिदान जुड़ा हुआ है तो दूसरे से हमारी शक्ति और वीरता जुड़ी हुई है। 'वंदे मातरम्' के गीत में यदि भारत माता अपने कोटि-कोटि भुजाओं में करवाल लेकर खड़ी हो गई हैं तो 'जनगण मन' में उसी वह अपने शत्रु को पराजित करने के लिए वेग से चल पड़ी हैं। एक भक्ति का और दूसरा शक्ति का गीत है दोनों को साथ सुनकर आप उनकी ध्वनि न यही आभास पाएँगे।

राष्ट्र-गीत की चर्चा करते समय 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' का भी ध्यान आता है। उसका आजकल कोई नाम भी नहीं लेता। प्रचारात्मक

साहित्य का ऐसा ही अंत होता है। उसमें कोई कवित्व गुण भी नहीं था। रचना-दोष भी उसमें बहुत थे। जब झंडे का गीत पसन्द किया गया तो दूसरों से अपेक्षित और अपने से तटस्थ हिंदी कवियों की राय भी नहीं ली गई। गीत चल पड़ा और उसने अपना काम किया। कम ही लोगों को यह बात मालूम होगी कि यह झंडे का गीत मौलिक नहीं है। यह गीत 'यूनियन जैक' पर लिखे गए एक गीत से लिया गया था। 'यूनियन जैक' पर वह कविता १९२५ की फ़रवरी की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। रचना किसी अमन सभाई की मालूम होती है, जिसे अपना नाम देने में भी शर्म मालूम होती थी इसीसे उसने अपने कलमी नाम 'सत्कविदास' से यह कविता छपाई थी। १९२१ के असहयोग आंदोलन के पश्चात् कवियों में भी कोई इस मनोवृत्ति का था इस पर अचरज होता है। कौतूहल के लिए कुछ पंक्तियाँ दे रहा हूँ जिससे आपको पता लग सके कि झंडे के गीत का लेखक इस 'सत्कविदास' का कितना ऋणी है

'संसृति मुक्ति त्रिरंगा प्यारा
झंडा ऊँचा रहे हमारा।
जिसकी छवि बरनि बाला
स्वजनों को हरषनि बाला
उस झंडे की छाया में सब
चलो साथ ही बोलें हम सब
कैसर हिंद प्रजा के प्यारे,
रहें सुखी सम्राट हमारे।"

जिस गीत के मुखड़े में 'यूनियन जैक' पड़ा हो उसके भुलाए जाने पर अथवा नष्ट होने पर मुझे कोई दुख नहीं है। इसके विषय में इतना लिखने की ज़रूरत इसलिए थी कि कुछ दिमाग़ों से इसे भी राष्ट्र-गीत मानने की कुछ आवाज़ें कभी-कभी कानों में पहुँची।

'जनगण मन' और 'वंदेमातरम्' की प्रतिद्वन्द्विता में 'जनगण मन' को पंडित जवाहरलाल नेहरू से बल प्राप्त हुआ है। उन्होंने सर्व प्रथम इस बात को उठाया कि 'वंदे मातरम्' का गीत मन्द और 'जनगण' का गतिमय है। यह बिलकुल ठीक बात है। बाजों पर इसे बजाने की सुविधा

के अतिरिक्त प्रगति के इस युग में हमें गतिमय गीत को ही अपनाना चाहिए। आज़ाद हिन्द फ़ौज के साहसी कारनामों से पंडित नेहरू एक समय फड़क उठे थे और उन्होंने इन्हीं के बल पर जेल से बाहर होते ही सन् ४२ की मरी-मसली जनता में जान फूंकी थी। यह बात भी उनके मन में अवश्य होगी कि आज़ाद हिन्द सरकार ने उसको अपना राष्ट्र-गीत माना था। 'वंदेमातरम्' को वे नहीं चाहते इसका कारण संभवतः केवल यही नहीं है कि उसकी गति मंद है। हमारे देश का एक वर्ग इसका विरोध अपने धार्मिक सिद्धांतों के कारण करता रहा है। पाकिस्तान बनने के बाद अगर आज हिंदू चाहें तो उनकी इस भावना की उपेक्षा कर सकते हैं। पर पंडित नेहरू कभी ऐसा करके सुखी नहीं हो सकते। संभवतः 'वंदेमातरम्' को छोड़ने के पीछे उनके मन में मुसलमान जनता की इस भावना का भी ध्यान है। यह उदारता और दरियादिली पंडित नेहरू के अनुकूल है और इसे हमारा समर्थन मिलना चाहिए। 'जनगण मन' को स्वीकार करने की कुछ कठिनाइयाँ भी हैं। यह अपने संगीत में पूर्ण है और बैंड आदि पर बजाने के उपयुक्त है। प्रगति युग में ध्वनि का आभास भी देता है। उसके साथ हमारी आज़ादी की पहली किरण का इतिहास भी बँधा है। पर हर रचना पर कुछ युग की छाप रहती है। समय ने हमारे देश का नक्शा ही बदल दिया। पूरे का पूरा 'सिंध' हिंदुस्तान की सीमा से बाहर चला गया है। 'पंजाब' और 'बंग' हिंदुस्तान और पाकिस्तान दोनों में हैं। विधान सभा के प्रथम सभापति श्री सच्चिदानंद सिन्हा ने एक बार लिखा था कि इस गीत में मेरे सूबे का (यानी बिहार का) नाम ही नहीं है, मैं कैसा इसे अपना राष्ट्र-गीत मानूं। कभी-कभी पत्रों में कुछ लोगों ने लिखा है कि यह रचना जार्ज पंचम के लिए लिखी गई थी। पता नहीं इसका कुछ सबूत भी उनके पास है या नहीं। यदि ऐसा है तो हम अपने राष्ट्र-गीत के साथ ऐसे संबंध पर कैसे अभिमान कर सकते हैं। फिर इस 'भाग्य विधाता' में कुछ मध्यकालीन प्रवृत्ति भी जान पड़ती है। हम भाग्यवादी कब तक बने रहेंगे, कब तक 'भाग्य विधाता' के संकेतों पर ही चलते रहेंगे। आनेवाली दुनिया में हमें भाग्य-भरोसे न बैठकर कुछ उद्यम भी करना होगा। इस कारण भी बहुत-से लोगों को 'भाग्य विधाता' खटकता है। एक बात और भी है। इस गीत में देश का सम्यक रूप नहीं है, न तो इसकी भूमि का और न इसके निवासियों

का। देश क्या है—पंजाब सिंधु गुजरात मराठा आदि-आदि। निवासी क्या हैं—हिंदू बौद्ध सिक्ख जैन पारसी आदि-आदि। क्या हमारा यही सपना है कि भारत की भूमि प्रांतों में बँटी रहे और भारतवासी धर्मों के रास्ते में विभक्त रहें? यही पर है प्रांतीयता और सांप्रदायिकता की जड़ जिसे काटने को हमारे नेता लगे हुए हैं। फिर क्या हम प्रत्येक अवसर पर अपना यह राष्ट्र-गीत गाकर अपनी सांप्रदायिकता और अपनी प्रांतीयता की स्मृति जगाते रहेंगे?[1] हमारा सपना है एक भारत एक भारतीय। यह गीत हमें उस ओर न बढ़ने देगा।

क्या एक स्वस्थ जाति यह नहीं कर सकती कि पुरान से बिल्कुल मुंह मोड़ कर कुछ नए का निर्माण करे। इस तरह की प्रवृत्ति भी चल रही है।

कलकत्ते में एक बंगीय हिंदी परिषद है। उसने हिंदी के लिए कुछ अच्छा काम भी किया है। उसने कुछ दिन हुए मेरे पास एक पर्चा भेजा था जिसमें इस बात की अपील की गई थी कि चूंकि हिंदी हमारी राष्ट्र भाषा है इस कारण हमारा राष्ट्र-गीत हिंदी में होना चाहिए। 'वंदेमातरम्' और 'जनगण मन' दोनों ही बंगला में हैं। और यह हिंदी गीत उन्होंने चुना था श्री जयशंकर प्रसाद के चन्द्रगुप्त नाटक के चौथे अंक के एक गीत को। गीत यह है

"हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध-शुद्ध भारती
स्वयं-प्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती
अमर्त्य वीर पुत्र हो दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो
प्रशस्त पुण्य पंथ है बढ़े चलो, बढ़े चलो।
असंख्य कीर्ति रश्मियाँ
विकीर्ण दिव्य दाह-सी

---

१ इतने वर्षों के बाद मैं यह सोचने को विवश होता हूं कि इतने दिनों में हमारी प्रांतीयता और सांप्रदायिकता की पृष्ठभूमि में हमारे राष्ट्र-गान ने कितना योगदान दिया है।
—लेखक (१९९१)

सपूत मातृभूमि के
रुको न शूर साहसी।
अराति सैन्य सिन्धु में सुबाड़वाग्नि से जलो
प्रवीर हो, जयी बनो, बढ़े चलो, बढ़े चलो!

शब्दावली क्लिष्ट और उच्चारण कठिन है। 'वन्दे मातरम्' को मान्यता हम इसलिए निरन्तर को तैयार हैं कि उसके साथ हमारे देश के संघर्ष का एक इतिहास जुड़ा है। पर इस गीत से कोई इतिहास नहीं जुड़ा है। फिर यह राष्ट्र-गान न होकर प्रयाण-गीत है। हम जो संसार में शान्ति की स्थापना करना अपने राष्ट्र का मूल लक्ष्य और सिद्धांत मानते हैं हर समय शत्रु की कल्पना नहीं करना चाहेंगे। शत्रु-शत्रु करते रहना उससे डरते अथवा उसे डराते रहने की बात सोचते रहना कायरता है अथवा मूर्खपन। कहने का तात्पर्य है कि प्रसाद जी की रचना का सम्मान करते हुए भी मैं इस राष्ट्र-गीत के रूप में स्वीकार करने की अपनी राय नहीं दे सकूंगा। परिषद् का काम बहुत कायदे से प्रचारात्मक ढंग पर किया जा रहा है। न जाने कितने लोगों के हस्ताक्षर इस विषय पर अब तक प्राप्त हो गए होंगे और शायद उन्हें विधान सभा के सामने भेजा भी जाएगा परन्तु मैं इसे समझदारी नहीं कहूँगा।

इस बीच मध्यप्रान्त के मुख्य मंत्री श्री रविशंकर शुक्ल की ओर से छपे हुए पर्चों में एक वक्तव्य राष्ट्रीय गान के संबंध में प्रकाशित हुआ था। उन्होंने 'कृष्णायन' के यशस्वी लेखक और मध्यप्रान्त के शिक्षा मंत्री श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र से एक गीत की रचना कराई है और वे चाहते हैं कि यह गीत राष्ट्र-गान के रूप में स्वीकार कर लिया जाय। उनका कथन है कि यह गीत किसी भारत भाग्य-विधाता की सेवा में न होकर स्वयं भारतमाता की सेवा में है। इस गीत में 'वन्दे मातरम्' और 'जनगण मन' दोनों के गुणों का समावेश है और भारतीय संस्कृति युग-युग से जिस सिद्धान्त को मानती आई है उसका प्रतिपादन है। गीत 'जनगण' की धुन पर है, इस कारण जो संगीत उसमें अपेक्षित है वह भी इसमें है। गीत छोटा भी है और राष्ट्र-गीत छोटा होना भी चाहिए। 'जनगण' के भी एक-दो पद गाए जाते हैं। 'वन्दे मातरम्' भी अपने सम्पूर्ण रूप में नहीं गाया जाता। गीत यह है

"जनगण-मन-अधिवासिनि जय हे महिमरणि भारतमाता ।
हैम-किरीटिनि विन्ध्य-मेखले उदधि-धौत पद-कमले
गंगा यमुना रेवा कृष्णा गोदावरि जल विमले
विविध तदपि अविभक्ते धात शक्ति संयुक्ते
युग-युग अमित माता,
जन-गण क्लेश विनाशिनि जय हे महिमरणि भारतमाता ।
जय हे जय हे जय हे महिमरणि भारतमाता ।"

अगर हम यह मान लें कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीत को परिवर्तित-संशोधित करके अपने राष्ट्र के लिए हमें नया गीत बनाने का अधिकार है तो मैं इस प्रयास पर बधाई देना चाहता हूँ। इसमें मैं कोई हानि नहीं समझता। स्वर और कुछ शब्द रवींद्र के अवश्य हैं पर गीत अपनी कल्पना में उनके गीत से अलग है। भारत को माता रूप से देखने की आकांक्षा सर्वथैव भारतीय है। भारतीय जीवन में माता का जो स्थान है उसपर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इससे भारत की सजीव एकता प्रकट होती है। प्रांतीयता की गंध भी इसके पास नहीं है। 'वंदे मातरम्' से ही सम्भवतः यह भारत का मातृ स्वरूप स्वीकार किया गया है। 'महिमरणि' में उसकी 'शुभ्र ज्योत्स्ना' ही नहीं 'सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा' भी संक्षेप रूप से आ गया है। इसी प्रकार 'अधिवासिनि' मूल गीत के 'अधिनायक' की ध्वनि भी समेटे हुए है। हमारा ध्येय भी यही है कि प्रांत-प्रांत का ध्यान छोड़ हम सम्पूर्ण भारत का सजीव चित्र अपने हृदय में रक्खें। इस कविता की प्रथम पंक्ति बहुत ही उत्तम और सारगर्भित है। प्रवाह और संगीत में भी यह पूर्ण है। यमक और अनुप्रास वर्ण मैत्री और उच्चारण सारल्य का तो यह एक नमूना है। पूरी पंक्ति में एक भी संयुक्ताक्षर नहीं आया।

मुझे पता नहीं कि श्री रविशंकर शुक्ल को अपने प्रयास में कितनी सफलता मिलेगी अथवा विधान सभा के कितने लोग उनके गीत या कहना चाहिए, श्री द्वारिकाप्रसाद जी मिश्र के गीत का समर्थन करेंगे। पर यदि इसकी कुछ संभावना हो तो मैं महाकवि श्री मिश्र जी की आज्ञा से और उनसे क्षमा माँगते हुए, उसमें कुछ संशोधन का प्रस्ताव रखना चाहता हूँ। मैं किसी अल्पाति अल्प कवि के पदों में भी कुछ जोड़ने-घटाने की बात कभी नहीं सोचता और मिश्र जी

सपूत मातृभूमि के
रुको न शूर साहसी ।
मराति सैन्य सिंधु म सुवाड़वाग्नि से जमो
प्रवीर हो जयी बनो बढ़े चलो बढ़े चलो !"

शब्दावली क्लिष्ट और उच्चारण कठिन है। 'वंदे मातरम्' की संस्कृत हम इसलिए निगलने को तैयार हैं कि उसके साथ हमारे देश के संघर्ष का एक इतिहास जुड़ा है। पर इस गीत से कोई इतिहास नहीं जुड़ा है। फिर यह राष्ट्र-गान न होकर प्रगति-गीत है। हम जो संसार में शांति की स्थापना करना अपने राष्ट्र का मूल संदेश और सिद्धांत मानते हैं हर समय शत्रु की कल्पना नहीं करना चाहते। शत्रु-शत्रु करते रहना उससे डरते अथवा उसे डराने रहने की बात सोचते रहना कायरता है अथवा गुंडापन। कहने का तात्पर्य है कि प्रसाद जी की रचना का सम्मान करते हुए भी मैं इसे राष्ट्र-गीत के रूप में स्वीकार करने की अपनी राय नहीं दे सकता। पारपद् का काम बहुत कायदे से प्रचारात्मक ढंग पर किया जा रहा है। न जाने कितने लोगों के हस्ताक्षर इस विषय पर अब तक प्राप्त हो गए होंगे और शायद उन्हें विधान सभा के सामने भेजा भी जाएगा परन्तु मैं इसे समझदारी नहीं कहूँगा।

इस बीच मध्यप्रांत के मुख्य मंत्री श्री रविशंकर शुक्ल की ओर से कुछ दिन हुए पत्रों में एक वक्तव्य राष्ट्रीय गान के संबंध में प्रकाशित हुआ था। उसमें कृष्णायन के यशस्वी लेखक और मध्यप्रांत के शिक्षा मंत्री श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र से एक गीत की रचना कराई है और वे चाहते हैं कि यह गीत राष्ट्र-गान के रूप में स्वीकार कर लिया जाय। उनका कथन है कि यह गीत किसी भारत-भाग्य-विधाता की सेवा में न होकर स्वयं भारतमाता की सेवा में है। इस गीत में 'वंदे मातरम्' और 'जनगण मन' दोनों के गुणों का समावेश है और भारतीय संस्कृति युग-युग से जिस सिद्धांत को मानती आई है उसका प्रतिपादन है। गीत 'जनगण' की धुन पर है इस कारण का संगीत उसमें पर्याप्त है यह भी उसमें है। गीत छोटा भी है और राष्ट्र-गीत होना भी चाहिए। 'जनगण' के भी एक-दो पद गाए जाते हैं। 'वंदे मातरम्' भी अपने संपूर्ण रूप में नहीं गाया जाता। गीत यह है

"जनगण-मन-अधिवासिनि जय हे महिमणि भारतमाता।
हेम-किरीटिनि विन्ध्य-मेखले जलधि-धौत पद-कमले
गंगा यमुना रेवा कृष्णा गोदावरि जल विमले
विविध तदपि अविभक्ते धात शक्ति संयुक्ते
युग-युग अभिनव माता,
जन मन क्लेश विनाशिनि जय हे महिमणि भारतमाता।
जय हे जय हे जय हे महिमणि भारतमाता।

मगर हम यह मान लें कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीत को परिवर्तित-संशोधित करके अपने राष्ट्र के लिए हमें नया गीत बनाने का अधिकार है तो मैं इस प्रयास पर बधाई देना चाहता हूँ। इसमें मैं कोई हानि नहीं समझता। स्वर और कुछ शब्द रवीन्द्र के अवश्य हैं पर गीत अपनी कल्पना में उनके गीत से अलग है। भारत को माता रूप से देखने की आकांक्षा सर्वथैव भारतीय है। भारतीय जीवन में माता का जो स्थान है उसपर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इससे भारत की सजीव एकता प्रकट होती है। प्रांतीयता की गंध भी इसके पास नहीं है। 'वंदे मातरम्' से ही सम्भवतः यह भारत का मातृ स्वरूप स्वीकार किया गया है। 'महिमणि' में उसकी 'शुभ्र ज्योत्स्ना' ही नहीं 'सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा' भी संक्षेप रूप में आ गया है। इसी प्रकार 'अधिवासिनि' मूल गीत के 'अधिनायक' की ध्वनि भी समेटे हुए है। हमारा ध्येय भी यही है कि प्रांत प्रांत का ध्यान छोड़ हम सम्पूर्ण भारत का सजीव चित्र अपने हृदय में रक्खें। इस कविता की प्रथम पंक्ति बहुत ही उत्तम और सारगर्भित है। प्रवाह और संगीत में भी यह पूर्ण है। यमक और अनुप्रास वर्ण मैत्री और उच्चारण सारल्य का तो यह एक नमूना है। पूरी पंक्ति में एक भी संयुक्ताक्षर नहीं आया।

मुझे पता नहीं कि श्री रविशंकर शुक्ल को अपने प्रयास में कितनी सफलता मिलेगी अथवा विधान सभा के कितने लोग उनके गीत या कहना चाहिए, श्री द्वारिकाप्रसाद जी मिश्र के गीत का समर्थन करेंगे। पर यदि इसकी कुछ संभावना हो तो मैं महाकवि श्री मिश्र जी की आज्ञा से और उनसे क्षमा माँगते हुए उसमें कुछ संशोधन का प्रस्ताव रखना चाहता हूँ। मैं किसी ख्याति प्राप्त कवि के पदों में भी कुछ जोड़ने-घटाने की बात कभी नहीं सोचता और मिश्र जी

की रचना में कुछ संशोधन करने की बात तो धृष्टता की सीमा लाँघना ही है। यदि मिश्र जी की यह रचना उनकी अन्य रचना के समान होती तो मैं उसमें कुछ परिवर्तन अथवा परिवर्धन करने की बात के मोह को दबा देता। परंतु यह गीत यदि राष्ट्र-गीत होने जा रहा है तो मैं अपनी बुद्धि के अनुसार उसमें कुछ परिवर्तन करना चाहूँगा। मुझे आशा है कि मेरे आशय को समझ लेने पर मेरी धृष्टता क्षम्य होगी।

प्रथम पंक्ति का एक-एक अक्षर अपने स्थान पर अटल है और उस पर सुधार नहीं हो सकता। दूसरी पंक्ति में 'किरीटिनी' शब्द मुझे नहीं अच्छा लगा। यह पंक्ति के ध्वनि-साम्य को बिगाड़ता है। इसी प्रकार 'उदधि बीच' में 'द', 'ध' इस क्रम में आते हैं कि उनका उच्चारण करना कठिन है। आगे का 'ठ' भी उसी वर्ग का है। इस पंक्ति को मैं यों कर देना चाहूँगा

"हेम कुन्तले विन्ध्य मेखले सिंधु नमित पद कमले।"

जिसे भी ध्वनि का कुछ बोध है यह इस पंक्ति में अधिक संगीत और प्रवाह देख लेगा। 'हेम कच' हमारे शिव जी का प्रचलित नाम है। केश और कुंतल एक ही है। इससे सांस्कृतिक संबंध भी स्थापित होता है। कुंतल और मेखले में ध्वनि साम्य पा जाता है। 'ले' की खिंची हुई ध्वनि में देश का विस्तार भी अभिव्यक्त होता है। इसी प्रकार 'सिंधु' जैसे विन्ध्य की ध्वनि को प्रतिध्वनित करता है साथ 'उदधि बीच' की उच्चारण कठिनता भी नहीं रह जाती।

तीसरी पंक्ति में कोई परिवर्तन नहीं चाहिए। 'विविध तदपि अविकम्पे' बहुत सुंदर टुकड़ा है। थोड़ा गद्यात्मक होते हुए भी इसमें अर्थ-गंभीरता है। हमारी युग-युग की सारी संस्कृति का एक यही संदेश है। इसमें देश के विभाजन के पश्चात् भी जो दोनों भागों में रमता है उसका संकेत है और भाव पर जैसे यह अचूक-सा लगता है। क्या यही बात गांधीजी ने तीसों तरह से नहीं कही। संसार से मैत्री करने की आकांक्षा लेकर चलनेवाले हम क्या अपने एक कटे हुए अंग को ही विभिन्न और अलग समझेंगे। 'शांत शक्ति समुत्थे' को मैं 'शांति शक्ति संयुक्ते' कर देना चाहूँगा। इसके अर्थ दोनों होंगे शांति और शक्ति से संयुक्त अथवा शांति की शक्ति से संयुक्त। 'शांत शक्ति' भी रक्खें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

'जुग-जुग प्रणिनव मात्रा' में कोई नई बात नहीं कही गई। रचना-दोष भी एक है। 'मात्रा' फिर आ कर 'भारत माता' का तुक बनता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीत में इस पद का तुक प्रसंग होता है 'विधाता' का 'माता' आदि। इस पंक्ति को मैं यों कर देना चाहूँगा

"त्रिविध ताप-तम त्राता'

अपनी ध्वनि से 'त्रिविध' 'विविध' की ध्वनि की पुनरुक्ति करता है और इस प्रकार उसकी गद्यात्मकता को जिसका संकेत मैंने ऊपर किया है, कुछ कम कर देता है। फिर ये वही त्रिविध 'तापा' हैं जो 'राम राज नहिं काहुहि व्यापा'। हमारे बापू स्वराज्य में राम राज्य का स्वप्न देखते रहे। उनकी इस कल्पना को भी हम इस गीत में स्थान दे दें तो अच्छा होगा। इसी प्रकार जो 'अखिल' है 'प्रेम कंटक' है, 'विषम' है उसे 'तम' का विनाश करना ही चाहिए। आप चाहें तो तीन प्रकार के तम की कल्पना भी कर सकते हैं। फिर 'त्राता' है, जो 'माता' बार-बार आने के रचना-दोष को बचा देता है। अनुप्रास उच्चारण-सरलता ला देता है। इसको अगर स्वीकार कर लें तो 'संशय विनाशिनि' बेकार हो जाता है। ताप तो तम ही तुक। फिर 'समस्त विनाशिनि' एक नकारात्मक गुण का बोध कराता है। इस पंक्ति को मैं यों चाहूँगा

"जनगण-पथ प्रकाशिनि जय हे महिमामयि भारत माता'।

सुना है अमरीका में स्वतंत्रता की मूर्ति के हाथ में एक मशाल है। भारत माता भी स्वतंत्रता की मूर्ति बनें और जन गण का पथ प्रकाशित करें, उन्नति के पथ पर ले जायें। इस पंक्ति के द्वारा भारतमाता की स्थिर मूर्ति गतिमान हो उठेगी।

मेरी प्रार्थना है कि कविता के पारखी मेरे इन संशोधनों पर ध्यान दें और अगर उनकी सुनाई विधान सभा तक हो तो वे इस बात को वहाँ तक पहुँचावें। यदि 'जनगण' के परिवर्तित रूप पर विचार किया जाय तो मैं चाहूँगा कि मेरे इन संशोधनों पर भी कुछ विचार किया जाय। राष्ट्र-गीत रोज रोज नहीं बनते। उसे पसंद करने में हम जितने खुले मस्तिष्क से सोच-विचार कर सकें उतना ही अच्छा।

लेख समाप्त करने के पहले मैं फिर भी मित्र जी से क्षमा चाहूँगा। और यह भी स्वीकार करना चाहूँगा कि उनकी पंक्तियों में यत्र-तत्र परिवर्तन करने

हमाम की ओर जा रहे हैं। बाल्टी के पास आते ही उन्होंने अपने दोनों हाथों में उसे उठा लिया और लेकर तीर की तरह अपने नहाने के कमरे की ओर चले गए। जाते समय इतना भर कह गए, "जो काम जिस वक्त करना है करना न करना वक्त के साथ दगाबाजी है।" यह सब इतनी जल्दी हो गया कि न हमसे बन पड़ा कि खुद बाल्टी ले जायें न यह कि उस गर्म हुए बर्तन को उनसे छुड़ा लें शायद भय भी था कि इस छीना-झपटी में कहीं गर्म पानी बाहर छलककर हाथों को न जला दे। वे तो बस आए और बर्तन उठाकर चले ही गए। किसी तरह का उन्होंने मौका ही न दिया।

"जेठ महातप भवन माहे
मता न काहू रहे सब आहे।"

बापू ने अपने समय पर स्नान किया। हम समय के साथ मेल कर सकते थे पर बापू तो समय के साथ 'दगाबाजी' नहीं कर सकते थे। समय के साथ जो उन्होंने वादा किया था उसको उन्होंने पूरा किया। उनका हाथ जल गया था। शाम को हमने देखा उनके अंगूठों और उंगली पर किसी सफेद किस्म की दवा लगी थी। समय की पाबंदी तो बहुतों ने सिखलाई, पर अपना हाथ जलाकर केवल बापू ने सिखलाया। और ऐसा सिखलाया कि जैसे अपना संदेश हृदय पर दाग दिया। मेरे और साथियों के ऊपर उसका क्या असर हुआ मैं नहीं जानता पर मुझे उस दिन से प्रमाद नहीं व्यापता।

"तब ते मोहि न व्यापी माया।"

जब कभी ऐसा अवसर आता है कि किसी निश्चित समय पर कोई काम करना या पूरा करना है तो किसी बात या बहाने को बीच में लाकर उसे टालने या उसमें देरी करने को मेरा मन गवारा नहीं कर पाता। बुद्ध बापू का जला हाथ याद आता है और उनके शब्द मेरे कानों में गूंजने लगते हैं

"जो काम जिस वक्त करना है करना न करना वक्त के साथ दगाबाजी है।

उन दिनों बापू की हिंदी अच्छी नहीं थी पर वे अपनी अटपट वाली में भी अपना सारा आशय व्यक्त करते थे। वे शब्दों में कोमल नहीं थे उनका हृदय बोलता था उनका व्यक्तित्व बोलता था उनकी भावना बोलती थी। और उनके बोल हृदय में चुभ जाते व यान बेकार नहीं पड़ते थे। मैं बहुत दिन नहीं

समझता रहा कि 'वक्त के साथ दगाबाजी' बापू की ठेठ हिंदी का एक नमूना है। पता नहीं वे क्या कहना चाहते थे और हिंदी में उनको यही शब्द सुलभ हो पाए। पर अब सोचता हूँ बापू बिल्कुल यही कहना चाहते थे। और जो वे कहना चाहते थे उसको दूसरे शब्दों में नहीं कहा जा सकता था। एक शब्द एक मात्रा से कम में नहीं ज्यादा में नहीं। बापू बनिए थे अपने बनियापन पर उन्हें गर्व था। शायद शब्दों के मामले में वे सबसे अधिक बनिए थे। तोलकर बोलते थे। न जरूरत से ज्यादा न जरूरत से कम। और हर शब्द सच्चा खरा यथार्थ भरा।

हम जो कुछ करने का निश्चय करते हैं वह सचमुच समय के साथ हमारा वादा है। हमारा सारा जीवन ही काल महाकाल के साथ एक प्रतिज्ञा है। हम सचमुच दिनानुदिन अपने कर्तव्यों को करके इस वादे को पूरा करते हैं। अपने निश्चयों से डिगते हैं तो समय के साथ वादा-खिलाफी होती है। समय क्या हमें क्षमा करेगा इस महान अपराध के लिए ! जिन्होंने समय के हाथों दंड पाया हो, वे जरा अपने से पूछें कि समय के साथ उन्होंने कितनी दगाबाजी की है। इन मूल शब्दों की व्याख्या के लिए कुछ मिनटों का समय अपर्याप्त है। इससे बापू के उन शब्दों को एक बार फिर दुहराकर यह वार्ता समाप्त करता हूँ "जो काम जिस वक्त करना है करना, न करना वक्त के साथ दगाबाजी है।"

१९४९]

भारत कोकिला सरोजिनी नायडू

(रेडियो वार्ता)

आज मैं जब सरोजिनी नायडू के बारे में सोचता हूँ तो मुझे सहसा अंग्रेज़ी कवि ब्राउनिंग की वे पंक्तियाँ याद आती हैं जो उन्होंने शेली के विषय में लिखी थीं। पंक्तियों का भावार्थ यों है "क्या तुमने शेली को साधारण मनुष्य के समान देखा था ? क्या वे सामने खड़े हो गए थे और उन्होंने तुमसे बात की थी और क्या तुमने भी उनसे कुछ कहा था और उन्होंने उसे सुना था ? यह कितना आश्चर्यजनक लगता है कितना सत्य लगता है !"

आज भी बहुत-से लोग मौजूद हैं जिन्होंने सरोजिनी नायडू के व्याख्यान सुने थे उनके मुख से उनकी कविताएँ सुनी थीं उनके पास बैठे थे और उनसे बातें की थीं। और मुझे इसका विश्वास है कि जिन्हें भी ऐसा सुयोग मिला था वे उसे अपनी स्मृति में संचित किए हुए हैं और शायद ही कभी वे उसे भुला सकेंगे। इन सौभाग्यशालियों में इन पंक्तियों का लेखक भी अपने को रख सकता है। आज तो विज्ञान ने यह संभव कर दिया है कि हम चाहें तो अपने नेताओं कवियों महापुरुषों का स्वर सुरक्षित रख सकते हैं। पर यह साधन सरोजिनी नायडू के जीवन-काल में इतना सहज सुलभ नहीं हुआ था। शायद उनका बोला और गाया हुआ बहुत कम सुरक्षित हो सका है पर हमारी पिछली पीढ़ी के नेताओं में यदि किसी के स्वर के प्रसार, माधुर्य और ओज को सबसे अधिक सुरक्षित रखने की आवश्यकता थी तो सरोजिनी नायडू के स्वर की। जिनके कानों में उनकी गूँज भरी हुई है वे अपने को धन्य मान सकते हैं।

हमने अपनी आज़ादी की जो लड़ाई लड़ी उसके सेनानियों में सरोजिनी नायडू सबसे आगे की पंक्ति में थीं। वास्तव में हमारी यह लड़ाई केवल लड़ाई नहीं थी यह भारत का पुनर्जागरण भी था भारत के पतझड़ में वसंत का [illegible] यहाँ एक ओर सिंहों की दहाड़ थी वहाँ दूसरी

और कोकिल का मधुमय गान भी था। सरोजिनी नायडू को Nightingale of India 'बुलबुलेहिंद' या 'भारत कोकिला' कहा जाता था। पर यह कोकिला ऐसी नहीं थी जिसने केवल गाकर अपने कर्तव्य को इतिश्री समझ ली थी उसने सिंहों की दहाड़ से भी होड़ ली थी और आजादी के यज्ञों से सही भी थी।

Where brave hearts carry the sword of battle,
T'is mine to carry the banner of song—

जहाँ वीरों की तलवारें जाती हैं वहाँ मैं गीतों की पताका ले जाती हूँ।

मैंने इस प्रकार के विचार अक्सर सुने हैं कि सरोजिनी नायडू अपने मच्चे रूप में कवि थीं और यदि वे राजनीति के झंझट में न फँसती तो शायद वे साहित्य और काव्य की बहुत अधिक सेवा करतीं। इस प्रकार के विचारों से मेरी लेशमात्र सहानुभूति नहीं। निकुंजों में पड़े गीत गुनगुनाने वाले कवि को मैं बहुत स्वस्थ नहीं समझ सकता। कवि का जो रूप मुझे सबसे अधिक भाता है वह यही है— 'भार सिर पर, कंठ में स्वर'।

मुझे जिस बात का अफ़सोस है वह यह है कि सरोजिनी नायडू जैसी प्रतिभा ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम अपनी देश की भाषा का क्यों नहीं चुना। यदि उन्होंने ऐसा किया होता तो उनकी प्रतिभा का अधिक विकास ही न होता हिन्दी की साहित्यिक संपत्ति की वृद्धि होती और उनकी वाणी इस देश के अधिक लोगों के लिए प्रेरणादायक सिद्ध होती। जहाँ तक मुझे मालूम है अंग्रेजी काव्य साहित्य के इतिहास में शायद कहीं उनका नामोल्लेख नहीं। काव्य संकलनों में भी शायद ही कहीं उनकी कविता को स्थान दिया गया हो। सच्चाई तो यह है कि विदेशी भाषा हम कितने ही श्रम साधना से सीखें उसमें कुछ सृजनात्मक दे सकना हमारी सामर्थ्य के बाहर है।

इसके लिए हमारे देश की परिस्थितियाँ बहुत कुछ उत्तरदायी हैं। गुलामी की अवस्था में अंग्रेजी भाषा की सर्वश्रेष्ठता की धाक हमपर बिठा दी गई थी। सरोजिनी नायडू की शिक्षा-दीक्षा में अंग्रेजी का बड़ा महत्त्व था। इंग्लैंड में रहकर भी उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। कविता में रुचि थी। उन दिनों लंदन में डब्ल्यू० बी० ईट्स अपने घर पर सोमवार की शाम को एक साहित्यिक गोष्ठी किया करते थे। सरोजिनी देवी भी उसमें सम्मिलित होती थीं और उसमें

उन्हें Little Indian Princess कहा जाता था—भारत की छोटी राजकुमारी। उनकी एक कविता Indian Weavers और ईट्स की एक प्रारंभिक कविता में भाव भाषा कल्पना की बड़ी समता है और संभव है कि सरोजिनी नायडू ने ईट्स से प्रेरणा भी हो।

पहले पहल जब सरोजिनी देवी ने कविताएँ लिखीं तब उन्होंने पूरी अंग्रेजी परंपरा को अपना लिया था—अंग्रेजी के रूपक, अंग्रेजी की भावाभिव्यक्ति जैसी अंग्रेजी का वातावरण। सौभाग्य से उन्होंने ये कविताएँ उस समय के प्रसिद्ध समालोचक एडमंड गास को दिखलाईं। गास ने उन्हें बड़ी अच्छी सलाह दी इस तरह की कविताएँ आप लिखेंगी तो वे अनुकरण मात्र होकर रह जायेंगी आप अंग्रेजी में अवश्य लिखें पर वातावरण अपने देश का दें। सरोजिनी देवी को यह सलाह ठीक जँची और इसका उन्होंने आजीवन पालन किया।

यदि हम उनकी कविता के विषयों को भी देखें तो हम पता लगा सकते कि भारत के जीवन में जो विशेष रूप से भारतीय है चित्र-मय है रंगीन है उसे उनकी आँखों ने पकड़ा है। कविताओं में इन्होंने अपनी भावनाओं से प्राणमय किया है कल्पना से रंजित किया है। पालकी उठानेवाले रमता गायक भारतीय जुलाहे कारोमंडल तट के मछुवाहे, संपेरा चक्की पीसनेवाली मेंहदी पालना भरी भारतीय नर्तक मृत-समर्पंती परदानशीन, रास्ते का गोर-गुम गोलकुंडा के मकबरे, भगवान बुद्ध बसंत पंचमी गुलमुहर, चंपक चूड़ी बेचने वाली नाग पंचमी राधा का गीत पर्दे का गीत देश बदला कृष्ण नारी धाम की नमाज मंदिर, लक्ष्मी इमामबाड़ा वृंदावन का मुरलीवाला भिखारी दमार घंटियाँ मोती काली माई बसंत गुलाब आदि।

इन कविताओं में सिरोजिनी नायडू का दृष्टिकोण रोमानी है उनपर भी राफेलाइट (Pre-Raphaelite) स्कूल भी है जिसमें शब्द संगीत पर विशेष बल दिया जाता है। अंग्रेजी न समझने वाले भी इनके शब्द संगीत का कुछ आनंद ले सकते हैं। पालकी उठाने वाले गीत में कुछ पंक्तियाँ सुनिए

"Lightly O lightly we bear her along
She sways like a flower in the wind of our song
She skims like a bird on the foam of a stream
She floats like a laugh from the lips of a dream"

कल्पना और मधुर-ध्वनियों का ताना-बाना बा यहाँ बुना गया है यह सिरोजिनी देवी की कविताओं की विशेषता है। बसंत और प्रेम उनकी कविता के ऐसे विषय हैं जिनपर उन्होंने कई कविताएँ लिखी हैं। बसंत प्रकृति वर्णन से उठकर देश और मानवता के नवजागरण तक जाता है उसी प्रकार प्रेम मानवी संबंधों से ऊपर उठकर कहीं-कहीं रहस्यवादी बन गया है।

देश का उद्बोधन करनेवाली भी उनकी कई रचनाएँ हैं और इनमें उनका स्वर ओजस्वी हो उठा है

"Thy future calls thee with a manifold sound,
To crescent honours, splendours victories vast;
Waken, O slumbering Mother and be crowned,
Who once wert Empress of the sovereign Past."

'भविष्य अनेक बहुकंठों से तुझे पुकार रहा है। वह श्री-संपदा और विजय से तेरा अभिषेक करना चाहता है। तू निद्रा त्यागकर उठ और अपना ताज पहन। क्या तुझे याद नहीं कि तू अतीत की महारानी थी !"

ऐसी उद्बोधनकारी कविताओं में Awake 'जागो' शीर्षक कविता है जो १९१५ की कांग्रेस में पढ़ी गई थी और मुहम्मद अली जिन्ना को समर्पित हुई थी—कविता के अंत में सब धर्मों के लोग हिन्दू मुसलमान ईसाई, पारसी तथा अन्य धर्मावलंबी भारतमाता को अपनी-अपनी सेवाएँ अर्पित करते हैं।

इधर उनकी कविताओं को पढ़ते हुए मेरा ध्यान 'द लोटस' सानेट पर गया था महात्मा गाँधी पर है जिसमें उन्होंने महात्मा गाँधी की तुलना उस रहस्यमय कमल से की है जिसके चारों ओर लाख-हा-लाख भौंरे एकत्र हो गए हैं।

उनकी कविताएँ अधिक नहीं हैं। उनके जीवन-काल में उनके तीन संग्रह निकले थे। उनका सकलन सेप्टर्ड फ्लूट (Sceptred Flute) के नाम से कर दिया गया है। मेरी बड़ी इच्छा है कि कोई सरोजिनी नायडू की समस्त रचनाओं का अनुवाद हिंदी में करे। मैंने स्वयं उनकी कई कविताओं का अनुवाद किया था पर न कहीं मेरे कागद-पत्तरों में दबी पड़ी हैं। एकाध मैंने उन्हें सुनाई भी थी और उन्हें पसंद आई थी। सरोजिनी नायडू की कविताओं में भारत के नवजागरण की प्रतिध्वनियाँ आज भी साफ सुनाई देती हैं।

फरवरी १९६६]

बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन : एक संस्मरण

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है कि राष्ट्र और राष्ट्रभाषा के वयोवृद्ध सेवक बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन के सम्मान में एक अभिनन्दन-ग्रंथ प्रकाशित करने की योजना बनाई गई है। इलाहाबाद नगर का निवासी होने के नाते इलाहाबाद-निवासी श्रद्धेय बाबूजी से अपना कुछ अधिक निकटता का नाता मानकर, गौरवान्वित होने का मुझे अधिकार है

"भाता है अपनी मन-भाता
नीक इलाहाबाद नगर से।

कई महीनों से यह सुन रहा हूँ कि बाबूजी बहुत बीमार हैं अस्वस्थता के कारण उन्होंने राज्यसभा से भी इस्तीफ़ा दे दिया है। कई बार मन में इच्छा हुई कि इलाहाबाद जाकर उनके दर्शन कर आऊँ, परन्तु दिल्ली के व्यस्त जीवन से इसके लिए समय निकालना असंभव-सा लगता है। ऐसी परिस्थिति में अभिनंदन-ग्रंथ के आयोजकों का मैं बड़ा आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे ग्रंथ के लिए कुछ लिखने के लिए निमंत्रित किया और इस प्रकार मुझे यह अवसर दिया कि दूर से ही सही मैं उनकी सेवा में अपने भावों की यह श्रद्धांजलि उपस्थित कर सकूँ। एक बात का मुझे खेद भी है यदि बाबूजी अभिनंदन-ग्रंथ के योग्य अथवा अधिकारी थे तो आज के बहुत पहले हो चुके थे और इस रूप में उनका सम्मान आज से बहुत पहले किया जाना चाहिए था। हम कामों को समय से न करने के आदी हो गए हैं। असमय किए कामों का महत्त्व घट जाता है। यों बाबूजी अपने अर्थों में स्वनामधन्य हैं और किसी भी समय उनका सम्मान करके हम स्वयं गौरवान्वित होंगे। आज तो विशेषकर हमारा उनका सम्मान करना उनके सम्मान से कहीं अधिक हमारा उनके त्याग, बलिदान एवं सेवा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन ही है।

भारत के पुनर्जागरण की बेला में अनेकानेक आंदोलन उठे परंतु उनमें दो

प्रमुख थे—एक राष्ट्र को स्वतंत्र करने का आंदोलन और दूसरा राष्ट्र को एक भाषा से सुसंगठित करने का आंदोलन। वस्तुतः कालक्रम में यह दूसरा आंदोलन पहले उठा जैसा कि स्वाभाविक भी था और मैं कहना चाहूँगा कि यह पहले से अधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण भी था। स्वतंत्रता मिलने के पश्चात् स्वतंत्रता का आंदोलन समाप्त हो गया पर राष्ट्रभाषा का आन्दोलन आज भी चल रहा है और उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि यह समस्त देश एक भाषा के सुदृढ़ सूत्र में आबद्ध नहीं हो जाता। इस देश की विभिन्नता सदियों से इतिहास के उत्थान-पतनों में पली हुई एकरूपता और समग्रता के लिए चीत्कार कर रही है। बाहरी रज्जुओं और शृंखलाओं से जकड़कर यह एकता नहीं लाई जा सकती, इसे तो किसी आंतरिक सूत्र में ही बाँधना होगा—और वह सूत्र एक भाषा का है—हिंद के लिए हिंदी का है। जब तक यह देश अपनी आत्मिक और स्वाभाविक एकता नहीं प्राप्त कर लेता तब तक इसकी स्वतंत्रता अधूरी है, इसकी स्वतंत्र सत्ता अस्पष्ट। इसीलिए आज वर्षों से श्रद्धेय टंडन जी परम आस्था और दृढ़ता के स्वरों में यह उद्घोषणा करते आ रहे हैं कि राष्ट्रीयता ही हिंदी और हिंदी ही राष्ट्रीयता है। इस भावना के उदार और उदात्त पक्ष को न समझना अपनी बुद्धि की परिसीमितता, हृदय की संकीर्णता और दृष्टि की मलिनता का ही सबूत देना है। आज जब उनके इस चिर-चिर प्रतिध्वनित स्वर के विरुद्ध कुछ लोगों ने कान में उँगली दे ली है और कुछ ने प्रतिवादी स्वरों में बोलना आरंभ कर दिया है तब हमारा उन्हें स्मरण करना, उनका सम्मान करना, उनका अभिनंदन करना, उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करना, हमारा एक बार फिर उनके संदेश की महत्ता को स्वीकार करना और उसके अनुरूप कुछ प्रभावकारी करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ और कटिबद्ध होना है। केवल इसी रूप में यह अभिनंदन-ग्रंथ किसी अंश में उनके संतोष का विषय बन सकता है, अन्यथा वे निंदा-स्तुति, मान-अपमान के बहुत ऊपर उठ चुके हैं।

मेरे विद्यार्थी जीवन में ही वे नगर के एक प्रतिष्ठित वकील के रूप में विख्यात हो चुके थे और हमारे सांस्कृतिक जीवन में हिंदी को पुनर्स्थापित करने का कार्य उन्होंने आरंभ कर दिया था। हिंदी-प्रेमियों को हिंदी पुस्तकें सस्ती सुलभ हों इसके लिए अपने एक धनी मित्र को प्रेरित कर उन्होंने 'साहित्य भवन'

की स्थापना कराई थी जो शाहगंज में चौक में उनकी बैठक के सामने वर्षों तक प्रयाग में हिंदी पुस्तकों की एक मात्र दुकान थी। भारतभर की सर्वप्रसिद्ध दुकानों की दुकान पर यह लिखकर टँगा है कि आप कोई भी पुस्तक कितनी भी देर तक दुकान में बैठकर पढ़ सकते हैं। 'साहित्य भवन' में यह लिखकर टँगा तो नहीं था पर परंपरा यही थी। पुस्तक खरीदने के लिए पैसों के अभाव में मैंने न जाने कितनी किताबें वहाँ बैठकर पढ़ी थीं और मेरी तरह के वहाँ बहुत लोग आया करते थे। टंडन जी को शायद पहली बार वहीं देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लोगों को किताबें देखते-पढ़ते देख उनकी आँखों में जो प्रसन्नता चमक उठती थी उसकी आभा से आज तक मेरी स्मृति का कोई कोना कभी-कभी चमचमा उठता है।

टंडन जी को पहली बार सुनने की स्मृति भी विद्यार्थी जीवन की है। स्कूल के किसी जलसे में उन्हें बुलाया गया था। उन्हें और स्वामी सत्यदेव परिव्राजक को एक ही मंच से सुनने की कुछ धुँधली-सी याद मुझे बनी हुई है। दोनों ही हिंदी की महत्ता पर बोले थे—एक गृहस्थ, एक सन्यासी पर हिंदी के विषय पर दोनों एकमत। तब से कई बार उन्हें सुनने का अवसर मिला पर प्रसंग कोई हो हिंदी का प्रचार, हिंदी की महत्ता की चर्चा उनके व्याख्यान में कहीं न कहीं से घूम-फिरकर आ ही जाती थी।

हिंदी के उच्चकोटि के साहित्य का पठन-पाठन विधिवत हो सके इसके लिए उन्होंने प्रयाग में हिंदी विद्यापीठ की स्थापना की थी। हमें यह न भूलना चाहिए कि वह वह समय था जब हिंदी के विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने की बात तो दूर, उसके अध्यापकों में उसे स्वीकृति की भी आशा न थी। वह इंटरमीडिएट में भी नहीं पढ़ाई जाती थी। उसका साहित्य सबसे हाईस्कूल तक पढ़ाने योग्य समझा जाता था।

ठीक सन् तो मुझे याद नहीं पर विद्यापीठ का उद्घाटनोत्सव लीडरगंज के विद्यामंदिर हाई स्कूल के अहाते में संपन्न हुआ था। अब वह स्कूल सड़क में आ गया है। उद्घाटन करने के लिए काशी से बाबू भगवानदास को बुलाया गया था। आज यह सोचकर मैं बड़े गौरव का अनुभव करता हूँ कि मैं उस उत्सव में मौजूद था। हम अपनी संस्कृति से जितने अपरिचित हो गए थे कि और उसके ऐतिहासिक तत्त्व का गर्व देखकर यह भीड़ सम्भ्रम से जिसके बीच में ठौर

होती है। उस दिन टंडन जी ने और भगवानदास जी ने क्या-क्या कहा इसकी तो मुझे याद नहीं पर उस 'पीठ' शब्द की उनकी विशद व्याख्या करती थी और इस प्रसंग में कभी अनुपस्थित जनता हँसी भी थी। टंडन जी ने हिंदी पर जैसे भाव-विभोर होकर व्याख्यान दिया था वैसे भाव-विभोर मैंने कुछ भक्तों को भगवान् का गुणगान करते समय देखा है। जहाँ तक मुझे मालूम है टंडन जी ने कभी कविता तो नहीं की परंतु उस दिन उनका भाषण काव्यमय ही था। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि हिंदी प्रचार-प्रसार के लिए टंडन जी ने सक्रिय रूप से जितना किया उतना शायद ही किसी दूसरे ने किया हो। पर उनमें प्रतिभा थी कि हम कुछ सृजनात्मक और स्थायी संपत्ति भी दे जाते। पर टंडन जी के संघर्षमय जीवन ने शायद वह शांति और सुविधा कभी नहीं दी जो सृजन के लिए आवश्यक होती है। ऐसी प्रतिभाओं को देखकर इस कथन की सत्यता का बोध होता है कि जीवन साहित्य से बड़ा है। टंडन जी ने कविता न लिखी हो पर उनका जीवन स्वयं एक काव्य रहा है। टंडन जी ने निबंध न लिखा हो पर उनका जीवन स्वयं निबंध-संबंध रहा है।

उनके हिंदी प्रेम का एक उत्कृष्ट उदाहरण मुझे उनकी कन्या कुमारी के विवाह के समय देखने को मिला। हमारे संस्कारों में संस्कृत अब भी प्रतिष्ठित है। हमारे समाज में फ़ारसी आई उर्दू आई, अंग्रेज़ी आई पर जीवन के एक क्षेत्र में हमारे पुरोहितवर्ग संस्कृत की सत्ता को अक्षुण्ण बनाए रहे। टंडन जी के मन में हिंदी का जो स्थान है वह सर्वव्यापक है, वे भारतीय जीवन के किसी भी क्षेत्र को हिंदी की परिधि से बाहर नहीं समझ सकते—चाहे वह शिक्षा का हो चाहे न्याय का चाहे राजनीति का चाहे धर्म का चाहे कर्मकांड का। उन्होंने यह निश्चय किया कि विवाह में जो भी मंत्र पढ़े जाते हैं उनका हिंदी में अनुवाद कर लिया जाए और संस्कार के समय वे हिंदी में ही पढ़े जाएँ। पंडितों को अपने घर पर बिठाकर उन्होंने सब संस्कृत मंत्रों का हिंदी में अनुवाद कराया स्वयं भी सहायता देते रहे और विवाह मंडप में केवल हिंदी ही सुनी गई। उनका विश्वास है कि जीवन के छोटे-से-छोटे क्षेत्र से लेकर बड़े-से-बड़े क्षेत्र में जहाँ वाणी की आवश्यकता पड़ती है हिंदी अपना दायित्व निभाने में समर्थ है या समर्थ बनाई जा सकती है। टंडन जी अमूर्त सिद्धांत बनाने और उसकी घोषणा करने में विश्वास नहीं रखते। जो कुछ करने योग्य है, जिसे किया

जाना चाहिए वे उसे करके दिखलाते हैं। वह सम्यक रूप में न हो सके, उसका उपहास किया जाए, उसका विरोध किया जाए, इसकी उनको परवाह नहीं है। पृथ्वी पर चलना है, दौड़ना है तो बच्चा इसकी प्रतीक्षा नहीं करेगा कि जब तक उसके पाँव मजबूत न हो जाएँ तब तक वह कदम नहीं उठाएगा। वह अपने अस्थिर निर्बल डगमगाते चरणों से भी चलेगा, गिरेगा, फिर उठेगा, आगे बढ़ेगा। जो लोग इस प्रतीक्षा में हैं कि जब स्त्री समर्थ हो जाएगी तब उसे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में लगाएँगे वे स्त्री को पंगु बनाए रखने का षड्यन्त्र रच रहे हैं।

महात्मा गांधी के १९२०-२१ के असहयोग आंदोलन में जब वे अपनी जमी-जमाई वकालत छोड़कर कूद पड़े तो किसीको आश्चर्य नहीं हुआ। आश्चर्य उनके ऐसा न करने पर होता। उनका परिवार बड़ा और गृहस्थी कच्ची थी और बापू जी के त्याग के कारण घर के छोटे-बड़े सबको जो कष्ट उठाना पड़ा उसने न जाने कितने परिवारों को साहस का पाठ पढ़ाया, सहारा दिया, ऊपर उठाया। मेरा ऐसा ख्याल है कि बहुत बड़े लोगों द्वारा किए गए त्याग-बलिदान लोगों को सहज अनुकरणीय नहीं होते। नेहरू-परिवार का त्याग बहुत बड़ा था, उसमें भव्यता थी, परंतु उसकी भव्यता उसके उदाहरण को अनुकरणीय बनाने में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित करती थी। टंडन जी का त्याग एक मध्य वर्ग के व्यक्ति का त्याग था। उसने प्रयाग के मध्यवर्गीय परिवारों के लिए त्याग और बलिदान को सहज-साध्य सिद्ध किया। स्वतंत्रता के संघर्ष के समय में देश के लिए मुसीबत उठानेवाले, त्याग करनेवाले, काम करनेवाले नागरिकों के लिए टंडन जी सबसे निकट और परिचित प्रतीक थे। सब उन्हें पास से देखते थे, पास से जानते थे। उनके घर पर पहरा नहीं था, उनके दफ्तर में दरबान नहीं थे।

१९३० के सत्याग्रह आंदोलन में एम० ए० प्रीवियस करने के बाद मैंने भी यूनिवर्सिटी छोड़ दी थी। दो-तीन वर्ष बाद जब आंदोलन की गर्मी शांत हुई तो जीवन की कठोर वास्तविकता से जूझना आरंभ किया। 'पायनियर' पत्रों के अधिकार से देशी मालिकों के हाथ में आया था। उन्होंने मेरे पिता की पेंशन बंद कर दी। सौभाग्य से मेरे छोटे भाई को बी० ए० करने के बाद ही बैंक की नौकरी मिल गई। मैंने सारे जुलूस, सभा, पिकेटिंग आदि विप्लव भरे कार्यक्रमों, क्रांतिकारियों की दुनिया से उतरकर जमीन पर जो देखा तो घोर

स्थ। दस आदमियों का परिवार, जो उनमें से बीमारियों के शिकार छोटी बहन ब्याहने को एक भारी क़र्ज़ चुकाने को और एक आदमी के कंधे पर सारा भार। ट्यूशनें एक-दो मैं करता था पर मैंने निश्चय किया कि कोई नियमित नौकरी करके मैं छोटे भाई का हाथ बटाऊँगा। काम मैं ऐसा चाहता था जिसमें देश के लिए कुछ करने का अवसर भी रहे और इतना वेतन भी मिले कि घर का काम-काज चलता रहे। उन दिनों बाबूजी लाला लाजपत राय द्वारा स्थापित 'सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसाइटी' के चेयरमैन थे। उसमें कुछ ऐसी व्यवस्था थी कि योग्य लोगों को पचास रुपया मासिक आदरधन (आनरेरियम) दिया जाता था और उनसे आजीवन देशसेवा का व्रत लिया जाता था। टंडन जी के सुपुत्र श्री गुरुप्रसाद टंडन (इस समय विक्टोरिया कालेज ग्वालियर में हिंदी-विभाग के अध्यक्ष) बी० ए० में मेरे सहपाठी थे। उनसे परामर्श करके मैंने सोसाइटी की सदस्यता के लिए एक प्रार्थनापत्र दे दिया। बाबूजी ने मुझे बुलाया उन्होंने मेरी आँखों में आँखें डालीं और न जाने क्या उन्होंने उनमें देखा कि मुझे सोसाइटी में लेने से इन्कार कर दिया। मुझे बी० ए० में प्रथम श्रेणी मिली थी मैंने अपनी पढ़ाई छोड़ी थी सरकारी छात्रवृत्ति छोड़ी थी और उन दिनों के आन्दोलनों में देश के लिए कुछ काम भी किया था अपने पुत्र के द्वारा उन्हें मेरी पारिवारिक स्थिति का पता था पर उन्होंने निर्ममतापूर्वक मुझसे कहा "मुझे लगता है तुम्हारा क्षेत्र यह नहीं तुम्हें अपनी पढ़ाई पूरी करके शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में अपना विकास करना चाहिए।" मुझे बड़ी निराशा हुई, टंडन जी के लिए स्वाभावतः मेरे मन में कुछ दुर्भावनाएँ भी उठीं पर आज मैं जानता हूँ कि उस समय मुझसे अधिक उन्होंने मुझे पहचाना था और यह मानता हूँ कि उन्होंने सोसाइटी में न लेकर मेरे साथ उपकार ही किया था।

इसके थोड़े ही समय बाद मैं 'मधुशाला' की रुबाइयों में फूट पड़ा। ऐसे कई अवसर मुझे मिले जब उनके सम्मुख या उनके सभापतित्व में मुझे कविता सुनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने हर बार मेरी आँखों में अपनी आँखें डालीं और जैसे मुझे उस पहली भेंट की याद दिलाई मैंने तुममें जो देखा था वह गलत नहीं था तुम राजनीति के अखाड़े के लिए नहीं थे काव्य के उपवन के लिए थे।

मेरी तरह टंडन जी ने न जाने कितने नवयुवकों को जीवन की ठीक दिशा

की होती जो यदि आज मेरे समान वाणी-मुखर हो सकते तो अपनी-अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते। महान आत्माओं का दान दोनों दिशाओं में होता है वे देश-समाज को एक व्यापक दान तो दे ही जाते हैं व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन को भी कुछ अमूल्य अनन्य अविस्मरणीय दे जाते हैं। सूर्य समुद्र को आत्मसात करता है, ओसबिंदु को भी चमका देता है। इन सीमित वरदानों की चर्चा इतिहास के पृष्ठों में नहीं होती पर समष्टि के जीवन में इनकी महत्ता कम नहीं होती। टंडन जी हमारे देश की महान आत्माओं में हैं उन्होंने अपने जीवन कर्म विचार से व्यापक रूप से देश को और सीमित रूप से अनेकानेक व्यक्तियों को प्रभावित किया है। उनकी साधना उनके जीवनकाल में ही पल्लवित-पुष्पित हुई है। हमारी भगवान से प्रार्थना है कि श्रद्धेय बाबूजी स्वस्थ होकर अभी बहुत दिनों तक हमारे बीच वर्तमान रहें और अपनी साधना को फलवती होते भी देखें। हम उनको यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि जिस राष्ट्रीयता का स्वप्न उन्होंने देखा था उसे सत्य करने का हम सतत प्रयत्न करते रहेंगे।

१९६]

अमरनाथ झा

(रेडियो वार्ता)

इस शताब्दी के पहले दो दशकों में प्रयाग के शिक्षित-दीक्षित नागरिकों में जिनकी चर्चा बड़े आदर-मान से हुआ करती थी वे थे पंडित मदनमोहन मालवीय, पंडित मोतीलाल नेहरू, सर तेजबहादुर सप्रू और महामहोपाध्याय पंडित गंगानाथ झा—मालवीय जी और नेहरू साहब का नाम देश-सेवा के क्षेत्र में, सप्रू साहब का न्याय के क्षेत्र में और झा महोदय का शिक्षा के क्षेत्र में। गंगानाथ जी म्योर सेंट्रल कालेज में संस्कृत-आचार्य के पद से उन्नति करके प्रयाग विश्वविद्यालय के उपकुलपति के पद पर पहुँचे थे और उन्होंने प्रायः ६ वर्षों तक विश्वविद्यालय की बागडोर सँभालकर १९३२ में अवकाश ग्रहण किया था।

अमरनाथ झा पंडित गंगानाथ झा के द्वितीय पुत्र थे। उनका जन्म १८९७ में हुआ और बचपन में ही अपने पिता के साथ दरभंगा से प्रयाग चले आए थे। उनकी शिक्षा कर्नलगंज स्कूल, गवर्नमेंट हाई स्कूल और म्योर सेंट्रल कालेज में हुई। उनके स्वाध्याय और उनकी बुद्धि की प्रखरता से अधिकारी-वर्ग इतने प्रभावित थे कि जब वे स्वयं एम० ए० में पढ़ते थे तभी उन्होंने बी० ए० को पढ़ाने का काम उन्हें दे रक्खा था। आगे चलकर वे प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग के अध्यक्ष हुए और १९३८ में उपकुलपति के पद के लिए चुने गए। अपने पूज्य पिता के समान ६ वर्षों तक वे उस पद पर रहे, पश्चात् एक वर्ष के लिए काशी विश्वविद्यालय के उपकुलपति रहे, १ वर्ष उत्तर प्रदेश पब्लिक सर्विस कमीशन के अध्यक्ष और २ वर्ष बिहार पब्लिक सर्विस कमीशन के अध्यक्ष। उनका देहावसान १९५५ में पटना में हुआ।

प्रयाग से उनको बड़ा प्रेम था। काशी जाने के पूर्व वे अक्सर कहते थे कि मैं जब से प्रयाग आया तब से अब तक कभी भी एक साथ १ महीने से अधिक

प्रयाग के बाहर नहीं रहा। और यह ६ मास की अवधि भी केवल एक बार पहुँची थी जब वे इंग्लैंड गए थे। उन्होंने प्रयाग नगर और प्रयाग विश्वविद्यालय की परम्परा को पूरी तरह ग्रहण किया था और उसके ऊपर अपनी पूरी छाप भी छोड़ी थी।

झा साहब से मेरा संपर्क उस समय हुआ जब मैं एम० ए० में पहुँचा। उनकी विद्वत्ता और बुद्धि की प्रखरता की चर्चा इतनी सुन चुका था कि बहुत डरते डरते उनके पास पहुँचा। वे एम० ए० का सेमिनार लिया करते थे जिसमें वे हर विद्यार्थी को अलग-अलग विषय पर लेख लिखने को दिया करते थे। युनिवर्सिटी में उनका एक अलग कमरा था दीवारें क़द्‌आदम आलमारियों से ढकी ठसाठस किताबों से भरी मेज पर भी नई-से-नई पुस्तकें पत्रिकाएँ सामने कुर्सी पर गुरु-गंभीर मुद्रा में झा साहब बड़ा भारी सिर, ज्ञान के भंडार का प्रतीक बड़ी-बड़ी आँखें जिनसे किसी का भी अज्ञान छिपा नहीं रह सकता। क्लास में ६ लड़के उन्हें सोचना नहीं पड़ा झट-झट हर एक को निबंध का अलग-अलग विषय दे दिया और फिर हर एक को सहायक पुस्तकों की सूची बता दी—पुस्तक का नाम लेखक का नाम प्रकाशक का नाम पत्रिका का नाम है तो उसका मास-वर्ष। विषयों पर जो कुछ कहना था उन्होंने ही कहा किसी को कुछ बोलने-पूछने की हिम्मत नहीं हुई। क्लास से निकले हैं तो जैसे किसी ने कानों में कहा है कि दरअसल के साथ क्लास में बैठना है तो मेहनत करनी पड़ेगी।

उन दिनों उनके व्यक्तिगत पूरक लेक्चर भी कभी-कभी होते थे। वे सवेरे की सुई से ठीक वक्त पर पहुँचते उनके आते ही सन्नाटा छा जाता उनके व्याख्यान के पीछे गंभीर अध्ययन होता विचारों की स्पष्टता होती क्रम होता संतुलन होता। उनके व्याख्यान में किसी के किसी तरह की गड़बड़ी मचाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उनकी आँखें सबको देखती रहती थीं और सबको अपनी शक्ति से प्रभावित करती थीं। वे अपने व्यक्तित्व और अपने ज्ञान दोनों से दुर्दम थे।

उनसे विशेष मिलने जुलने का अवसर मुझे उन दिनों मिला जब वे विश्वविद्यालय के उपकुलपति हो गए थे और मैं अंग्रेजी विभाग में लेक्चरर था। अब तक मैंने केवल उन्हें विद्यार्थी की दृष्टि से देखा था दर्जे में था लेक्चरर होकर

में। अब यदा-कदा घर पर भी उनके दर्शन करने का सुयोग मिला। एक बार मैं लगभग एक मास उनके मसूरी के लिनवुड काटेज में उनके साथ ठहरा था। और इस प्रकार उनकी दिनचर्या और उनकी कार्यविधि से भी परिचय प्राप्त कर सका था।

यों तो उनका विशेष विषय अंग्रेजी साहित्य था पर उनकी रुचि में विविधता थी—ज्ञान-विज्ञान के हर क्षेत्र में उनका थोड़ा-बहुत दखल था। अंग्रेजी के माध्यम से वे विभिन्न योरोपीय साहित्य से भी परिचित थे। भाषाएँ वे कई जानते थे। संस्कृत बँगला मैथिली हिंदी और उर्दू। इनमें भी जो उच्चकोटि का साहित्य है, वह उन्होंने पढ़ रखा था। संस्कृत के कितने ही श्लोक उनकी जबान पर थे जो प्रसंगानुसार वे सुना देते थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की संपूर्ण बँगला रचनावली उनकी मेज पर रक्खी रहती थी। मैथिली उनकी मातृभाषा ही थी। उनके हिंदी लेखों का एक संग्रह भी छप चुका है। उर्दू कवियों पर उनके लेख प्राय पत्रों में निकला करते थे। अब उनके ऐसे लेखों का संग्रह 'उर्दू पोएट्स ऐंड पोएट्री' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। अंग्रेजी में 'फोक्स-पीरियस कामिनी' के नाम से उन्होंने एक पुस्तक लिखी थी। वे बिहारी के दोहों का अंग्रेजी अनुवाद भी कर रहे थे मुझे पता नहीं कि उनके देहावसान के पश्चात् उनकी पांडुलिपियों का क्या हुआ।

अपने घर पर उनका अधिक समय अपने रामकाशी पुस्तकालय में बीतता। उस पुस्तकालय में केवल पुस्तकें ही नहीं थीं अनेक चित्रकारों के चित्रों और कलाकारों की कला-कृतियों से वह सुसज्जित था। शायद ही कोई प्रसिद्ध पत्र पत्रिका ऐसी हो जो उनके यहाँ न आती हो। पुस्तकें तो वे बराबर पढ़ते ही रहते व पत्र-पत्रिकाओं में भी कुछ अच्छा उनकी नजर से न छूटता था। यह सारी सामग्री उनके मित्रों और विद्यार्थियों के लिए खुली थी। लोग बराबर उनके पुस्तकालय से किताबें ले जाते थे। मैंने जब 'प्रयाग की मधुशाला' की भूमिका लिखनी चाही तो प्रयाग के सब पुस्तकालयों से अधिक सामग्री उस विषय पर मुझे झा साहब के पुस्तकालय में मिली।

इस प्रकार झा साहब एक सुसंस्कृत व्यक्तित्व के प्रतीक बन गए थे। यूनिवर्सिटी या नगर में किसी भी सांस्कृतिक अवसर या पर्व पर उनके व्याख्यान आरम्भिक और मार्गदर्शक होते थे।

कला और संस्कृति के सब प्रकार के आयोजनों में वे रुचि लेते थे। चित्र प्रदर्शनी, संगीत-सम्मेलन, कवि-सम्मेलन, नाट्य-प्रदर्शन, सभी को उनका सहयोग मिलता था। कवि-सम्मेलन और मुशायरे उनके घर पर बराबर हुआ करते थे। अपने समकालीन उर्दू और हिंदी के प्रायः सभी कवियों से उनका व्यक्तिगत संपर्क था।

उनके कार्य के क्षेत्र बहुत विस्तृत और विविध थे। छोटी-सी वार्ता में सब पर प्रकाश डालना संभव नहीं। प्रमुख रूप में वे प्रयाग विश्वविद्यालय के उप-कुलपति के रूप में स्मरण किए जाएँगे। उनका द्वार उनके प्रत्येक विद्यार्थी के लिए खुला रहता था। वे जहाँ तक संभव हो सकता था, सबकी बात सुनते थे, सबको उचित सलाह देते थे। न जाने कितने विद्यार्थियों के जीवन को उन्होंने बनाया था। एक बार यूनिवर्सिटी छोड़कर जो मैं फिर यूनिवर्सिटी में आया, यह उन्हीं की प्रेरणा का प्रभाव था। विद्यार्थियों से संपर्क रखना उनको इतना प्रिय था कि वाइस चांसलर हो जाने के बाद भी वे इतना समय निकाल लेते थे कि बी० ए० के विद्यार्थियों का एक सेमिनार लिया करते थे। यूनिवर्सिटी छोड़ने के बाद भी वे अपने विद्यार्थियों की खोज-खबर रखते थे। जब कभी यात्रा पर जाते, विभिन्न स्टेशनों पर अपने विद्यार्थियों को सूचना देकर बुलाते और उनसे मिलते।

उनकी पत्नी का देहावसान उनके यौवन-काल में ही हो गया था। उनका अपना कोई पारिवारिक जीवन नहीं था। उनका परिवार था उनके प्रेमियों का, विद्यार्थियों का। सुबह और शाम के कई घंटे लोगों से मिलने-मिलाने के लिए होते थे। यूनिवर्सिटी से अलग होने पर भी उनके दरबार में लोग बराबर जमा रहते थे।

आवश्यकता है कि उनकी एक विस्तृत जीवनी लिखी जाय। अभी बहुत से लोग और बहुत-सी सामग्री मिल सकती है जो इस दिशा में सहायक हो सके।

जब-जब उत्तर भारत के विद्या और शिक्षा-विशारदों की चर्चा होगी अमरनाथ झा को आदर से स्मरण किया जाएगा।

जनवरी १६]

फिल्म नहीं जान पड़ा—शरणार्थियों से बसा तंग रास्ते बाजार का शोर-गुल। लौटते समय हमें नगर को देखने का अधिक समय मिला। नगर के बाहर खुली जगहें हैं कुछ अच्छी इमारतें और अच्छे मंदिर हैं। सबसे भव्य भवन भूतपूर्व राजाओं का राजमहल है। कश्मीर जिस प्राकृतिक सौंदर्य के लिए प्रसिद्ध है, उसकी झलक जम्मू में भी यत्र-तत्र देखी जा सकती है।

कश्मीर सरकार के अधिकारी हमें जम्मू में मिल गए। हमें जम्मू से श्रीनगर भेजने का इंतजाम इस प्रकार था। शाम को जम्मू से ट्रकें जाती हैं जिनमें सामान वगैरह जाता है। ये ट्रकें बहुत तेज नहीं जातीं। रास्ते में रुकती भी देर-देर तक हैं और इस प्रकार से लगभग दो सौ मील का सफर चौबीस-पच्चीस घंटे में तै करती हैं। हमारे दल में बीस विद्यार्थी थे। हम दो-दो करके इन ट्रकों में आगे की सीट पर बिठा दिए गए। हम लोग कोई सात बजे रवाना हुए थे। इलाहाबाद से दिल्ली और दिल्ली से पठानकोट तक हम बीस के बीस एक ही डिब्बे में आए थे। पठानकोट से जम्मू तक भी एक ही बस में। साथ में बातचीत हँसी-मजाक में जो आनंद आ रहा था वह सहसा खत्म हो गया। अब हम बस दो-दो साथ रह गए और साथ में दो अपरिचित एक ड्राइवर और एक क्लीनर जिन्हें हमें लाना प्रियकर न था क्योंकि यों उनको सवारी न लाने की मनाही है फिर भी वे चोरी-छिपे सवारी ले जाते हैं और कुछ रुपए बना लेते हैं।

पहला पड़ाव कुद नामक स्थान पर हुआ। यहाँ हम लोग लगभग ११ बजे रात पहुँचे। वहाँ के अड्डे पर ही एक छोटा-सा होटल है। यहीं हमने खाना खाया और दो-तीन घंटे आराम किया। सुबह चार बजे बसें फिर चल पड़ीं। कुहरा पड़ रहा था और हमारी बस देवदार के वृक्षों में होकर गुजर रही थी—धीरे-धीरे, सँभल-सँभल।

पीर पंजाल हमने लगभग ९ बजे शाम को पार किया। बहुत ऊँचा और ऊँचा पहाड़ है। पाँच-सात समानांतर शिखर एक-दूसरे के ऊपर दिखाई पड़ती हैं। कोई कम नीचे है कोई बीच में कोई ऊपर। ऊँचाई पर पहुँचकर एक सुरंग पार करनी पड़ती है और इसके पार करते ही हम कश्मीर की घाटी में पहुँच जाते हैं। सुरंग के अंधकार में थोड़ी देर रहने के बाद जो सहसा चौड़ी घाटी और दूर पर ऊँचे पहाड़ों का दृश्य सामने आता है वह जल्दी नहीं भुलाया जा सकता।

कश्मीर यात्रा : एक संस्मरण

(रेडियो वार्ता)

कश्मीर भारत का नन्दनवन है, पृथ्वी का स्वर्ग है, प्रकृति के शृंगार की पिटारी है—आदि-आदि कवित्वपूर्ण बातें कश्मीर के सम्बन्ध में मैं लड़कपन से सुन चुका था। पर पहली बार कश्मीर देखने का सुयोग मिला मुझे १९४९ में अर्थात् अपनी ४२ वर्ष की अवस्था में। मेरा जन्म शहर में हुआ, गलियों में मैं खेला कूदा, मुहल्ले-टोलों में घूमा-फिरा। प्रकृति-प्रेम के संस्कार मुझमें जागे ही नहीं। याद नहीं पड़ता कि किसी स्थान के प्राकृतिक सौंदर्य से आकर्षित होकर मैं उसे देखने गया हूँ। हाँ, कहीं अपना मित्र या प्रेमी हो तो वहाँ जाने के कुछ मतलब मेरे लिए होते हैं। या यदि कोई मित्र या सगा हो तो उसके साथ प्राकृतिक सौंदर्य के स्थान की यात्रा भी की जा सकती है। इसके अभाव में कश्मीर की यात्रा मेरे लिए टलती गई।

उन दिनों मैं इलाहाबाद युनिवर्सिटी में अंग्रेजी का अध्यापक था। कुछ दिन पहले कश्मीर के एक नेता युनिवर्सिटी में आए थे और उन्होंने विद्यार्थियों के एक दल को कश्मीर आने और वहाँ का जीवन देखने के लिए आमंत्रित किया था। दशहरे की छुट्टियों में विद्यार्थियों का एक दल इस यात्रा के लिए तैयार हुआ और वाइस चान्सलर महोदय ने उसकी देख-रेख और उसके प्रबन्ध का कार्य मुझे सौंपा। कश्मीर सरकार की ओर से पत्र आ गया कि जम्मू से हमारे ठहरने, खाने-पीने, घुमाने-फिराने की सारी जिम्मेदारी कश्मीर सरकार की होगी।

कश्मीर जाने के लिए पठानकोट निकटतम रेलवे स्टेशन है। वहाँ से जम्मू के लिए बसें मिलती हैं। तीन-चार घंटे का रास्ता है। पठानकोट से जम्मू का रास्ता विशेष आकर्षक नहीं। सड़क भर अच्छी है। जिस समय हम लोग जम्मू पहुँचे संध्या हो गई थी। बाहर से देखने से नगर भारत के अन्य नगरों से

भिन्न नहीं जान पड़ा—अतरवीबी से बसा, तंग रास्ते बाजार का शोर-गुल। लौटते समय हमें नगर को देखने का अधिक समय मिला। नगर के बाहर खुली जगहें हैं, कुछ अच्छी इमारतें और अच्छे मंदिर हैं। सबसे भव्य भवन भूतपूर्व राजाओं का राजमहल है। कश्मीर जिस प्राकृतिक सौंदर्य के लिए प्रसिद्ध है उसकी झालर जम्मू में भी यत्र-तत्र देखी जा सकती है।

कश्मीर सरकार के अधिकारी हमें जम्मू में मिल गए। हमें जम्मू से श्रीनगर भेजने का इंतजाम इस प्रकार था। शाम को जम्मू से ट्रकें जाती हैं जिनमें सामान वगैरह जाता है। ये ट्रकें बहुत तेज नहीं जातीं। रास्ते में रुकती भी देर-देर तक हैं और इस प्रकार ये लगभग दो सौ मील का सफर चौबीस-पच्चीस घंटे में तै करती हैं। हमारे दल में बीस विद्यार्थी थे। हम दो-दो करके इन ट्रकों में आगे की सीट पर बिठा दिए गए। हम लोग कोई सात बजे रवाना हुए थे। इलाहाबाद से दिल्ली और दिल्ली से पठानकोट तक हम लोग के बीस एक ही डिब्बे में आए थे। पठानकोट से जम्मू तक भी एक ही बस में। साथ में बातचीत हँसी-मजाक में जो आनंद आ रहा था वह सहसा खत्म हो गया। अब हम सब दो-दो साथ रह गए और साथ में दो अपरिचित एक ड्राइवर और एक क्लीनर जिन्हें हमें लाना अख्तियार न था क्योंकि या उनको सवारी ले जाने की मनाही है फिर भी वे चोरी-छिपे सवारी ले जाते हैं और कुछ रुपए बना लेते हैं।

पहला पड़ाव कुद नामक स्थान पर हुआ। यहाँ हम लोग लगभग ११ बजे रात पहुँचे। बसों के अड्डे पर ही एक छोटा-सा होटल है। यहीं हमने खाना खाया और दो-तीन घंटे आराम किया। सुबह चार बजे बसें फिर चल पड़ीं। कुहरा पड़ रहा था और हमारी बसें बादल के धुएँ में होकर गुजर रही थीं—धीरे-धीरे, सँभल-सँभल।

पीर पंजाल हमने लगभग १ बजे शाम को पार किया। बहुत सीधा और ऊँचा पहाड़ है। पाँच-सात समानांतर सड़कें एक-दूसरे के ऊपर दिखाई पड़ती हैं। कोई सब नीचे है कोई बीच में कोई ऊपर। ऊँचाई पर पहुँचकर एक सुरंग पार करनी पड़ती है और इसके पार करते ही हम कश्मीर की घाटी में पहुँच जाते हैं। सुरंग के अंधकार में थोड़ी देर रहने के बाद जो सहसा चौड़ी घाटी और दूर पर ऊँचे पहाड़ों का दृश्य सामने आता है वह जल्दी नहीं भुलाया जा सकता।

कर्ण

(रेडियो वार्ता)

महाभारत के योद्धाओं का स्मरण करते हुए कर्ण को भूलना सम्भव नहीं है। वे कौरवों की ओर से लड़े थे और अंत में अर्जुन द्वारा पराजित और धराशायी हुए थे। कर्ण महाबलवान और पराक्रमी थे पर उनके नाम के साथ जो विशेषण जुड़ा वह 'दानवीर' का था—दानवीर कर्ण। और यही दानवीरता सम्भवतः उनके पराभव का कारण भी बनी थी। उनके जन्म के साथ एक ऐसी घटना जुड़ी थी जिसके कारण उनमें एक हीन-भावना भी थी जिसे आजकल की भाषा में इन्फ़ीरियॉरिटी काम्प्लेक्स कहते। उनका अहंकार भी इसी का दूसरा और उग्र पहलू था। उनके प्रति जो व्यवहार किया गया और जिस प्रकार युद्ध में उन्हें मारा गया उसमें उनके प्रति न्याय किया गया अथवा नहीं इसका उत्तर देना सहज नहीं। महाभारत का तर्क दूसरा ही है। मूल बात यह है कि कर्ण कौरवों की ओर थे इस कारण वे अधर्म की ओर थे और भगवान कृष्ण का जन्म धर्म के अभ्युत्थान और संस्थापन के लिए हुआ था। उनके संकेत और उनकी प्रेरणा से जो हुआ उसे बेठीक कहने का साहस कौन करेगा? "यतो कृष्णस्ततो धर्मः, यतो धर्मस्ततो जय" महाभारत की घोषणा है।

अब हम उनका जीवन वृत्तांत सुनें। कहते हैं कुंती ने अपने कौमार्य में दुर्वासा ऋषि की बड़ी सेवा की। ऋषि ने प्रसन्न होकर कुंती को यह वरदान दिया कि अवस्था प्राप्त होने पर जिस देवता का भी वह स्मरण करेगी उससे पुत्र प्राप्त कर सकेगी। कुंती ने कौतूहलवश मुनि के वचन की परीक्षा करने के लिए सूर्य का स्मरण किया। सूर्य देवता मनुष्य-रूप में प्रकट हुए और कुंती ने उनसे गर्भ धारण किया। कुमारी कुंती के गर्भ से जो बालक उत्पन्न हुआ वह कर्ण था। बालक बहुत ही दिव्य था और जन्म से ही कुंडल और कवच धारण किए हुए था, जो कहते हैं अमृत से प्रकट हुआ था। इनको धारण करने के

हो जो चीज़ों का वाजबी दाम जानता हो। कश्मीर कला-कारीगरी का प्रदेश है और अगर आपको कला से प्रेम है तो स्वाभाविक है कि ये चीज़ें आपके मन को मोहेंगी। व्यापारी आँख पहचानता है। अगर किसी चीज़ पर आपकी तबीयत आ गई है तो वह जानता है कि आपसे मुँह माँगा दाम ले सकता है। कश्मीरी चीज़ों को बनाने की ही कला नहीं जानते उन्हें बेचने की कला भी जानते हैं।

श्रीनगर ख़ास में देखने की चीज़ें शालामार और निशात बाग़ हैं—मुग़ल बादशाहों के बनवाए हुए बाग़ जहाँ वे मकानों की गर्मी से बचने के लिए आया करते थे। चश्मा शाही में भी एक बाग़ और छोटी-सी इमारत है। इसका पानी बहुत अच्छा माना जाता है।

श्रीनगर से बाहर के स्थानों को देखने के लिए कश्मीर सरकार ने हमें एक बस दे दी थी। उसी से हमने गुलमर्ग, पहलगाम, अनंतनाग, अच्छाबल, ऊलर झील और मटन आदि स्थान देखे। जहाँ बस नहीं जाती थी वहाँ या तो हम पैदल गए या घोड़ों से। गुलमर्ग में मौसम साफ़ था और नंगापर्वत आसमान में अपना सिर ऊँचा उठाए हुए बहुत भव्य लगा। पहलगाम से चंदनवाड़ी तक हम घोड़ों पर गए, चंदनवाड़ी में बर्फ़ से पुल बन जाता है और पानी नीचे से बहता है। अनंतनाग में पानी का स्रोत है जहाँ से वितस्ता अपना झरना निकलती है। कश्मीर पहाड़ी प्रदेश है, कहीं बर्फ़ से ढकी चोटियाँ दिखाई पड़ती हैं, कहीं मौसम-बेमौसम की नदियाँ-झरने। बाग़ हैं तो फलों से लदे, समीप हैं तो फूलों से रंगारंग।

कश्मीर सुंदर है, पर कश्मीरी मुझे अधिक सुंदर लगे। शिकारेवालों से लेकर लेखक और कवियों तक बहुतों से मेरा परिचय हुआ। मुझे कवि रूप में भी जाननेवाले वहाँ बहुत थे, कई संस्थाओं में मैंने कविता पाठ किया। बहुतों से जिनसे परिचय हुआ था आज तक मेरा पत्र-व्यवहार है। कश्मीरी मित्र बनाना और मित्रता क़ायम रखना दोनों जानते हैं।

दो वर्ष हुए मैं कश्मीर फिर गया था, पर मैं स्पष्ट कर दूँ, कश्मीर का प्राकृतिक सौंदर्य मुझे वहाँ नहीं खींच ले गया था। मुझे खींच ले गई थी वहाँ के मेरे कुछ मित्रों की मुहब्बत और आज भी कभी मेरा जाना हुआ तो कश्मीर से अधिक कश्मीरियों के प्रति मेरा आकर्षण ही मुझे वहाँ ले जाएगा।

कर्ण

(रेडियो वार्ता)

महाभारत के योद्धाओं का स्मरण करते हुए कर्ण को भूलना सम्भव नहीं है। वे कौरवों की ओर से लड़े थे और अंत में अर्जुन द्वारा पराजित और धराशायी हुए थे। कर्ण महाबलवान और पराक्रमी थे पर उनके नाम के साथ जो विशेषण जुड़ा वह 'दानवीर' का था—दानवीर कर्ण। और यही दानवीरता संभवतः उनके पराजय का कारण भी बनी थी। उनके जन्म के साथ एक ऐसी घटना जुड़ी थी जिसके कारण उनमें एक हीन-भावना भी थी जिसे आजकल की भाषा में इनफ़ीरियारिटी काम्प्लेक्स कहते। उनका अहंकार भी उसी का दूसरा और उग्र पहलू था। उनके प्रति जो व्यवहार किया गया और जिस प्रकार युद्ध म उन्हें मारा गया उसमें उनके प्रति न्याय किया गया अथवा नहीं इसका उत्तर देना सहज नहीं। महाभारत का तर्क दूसरा ही है। मूल बात यह है कि कर्ण कौरवों की ओर थे इस कारण वे अधर्म की ओर थे और भगवान कृष्ण का जन्म धर्म के अभ्युत्थान और संस्थापन के लिए हुआ था। उनके संकेत और उनकी प्रेरणा से जो हुआ उसे बेठीक कहने का साहस कौन करेगा? "यतो कृष्णस्ततो धर्मः, यतो धर्मस्ततो जय" महाभारत की घोषणा है।

अब हम उनका जीवन वृत्तांत सुनें। कहते हैं कुंती न अपने कौमार्य में दुर्वासा ऋषि की बड़ी सेवा की। ऋषि ने प्रसन्न होकर कुंती को यह वरदान दिया कि अवस्था प्राप्त होने पर जिस देवता का भी वह स्मरण करेगी उससे पुत्र प्राप्त कर सकेगी। कुंती ने कौतूहलवश मुनि क वचन को परीक्षा करने क लिए सूर्य का स्मरण किया। सूर्य देवता मनुष्य-रूप म प्रकट हुए और कुंती ने उनसे गर्भ धारण किया। कुमारी कुंती के गर्भ से जो बालक उत्पन्न हुआ वह कर्ण था। बालक बहुत ही दिव्य था और जन्म स ही कुंडल और कवच धारण किए हुए था जो कहते हैं अमृत से प्रकट हुआ था। इनको धारण करने के

कारण वह मृत्युंजय था और उसे मानव-दानव-देवताओं में से कोई नहीं मार सकता था। पर कुमारी अपने पुत्र को लेकर समाज के सामने कैसे आती। उसने कर्ण को एक पिटारी में रखकर नदी में प्रवाहित कर दिया।

यह पिटारी अधिरथ ने देखी और पकड़ ली। अधिरथ कर्म से सूत था सारथी था और राजा धृतराष्ट्र का मित्र था। उसके कोई संतान न थी। उसने बालक को लाकर अपनी पत्नी राधा को दिया जिसने बड़े लाड़-प्यार से उसका पालन-पोषण करना आरंभ किया। इसी कारण कर्ण को कभी कभी सूतपुत्र अधिरथि अथवा राधेय भी कहा जाता है।

सूर्य का अंश होने के कारण कर्ण अपने तेज से ही दिन-प्रतिदिन ओज और बल में बढ़ने लगे। उधर द्रोणाचार्य ने जब कौरवों और पांडवों को अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा देनी आरंभ की तो कर्ण भी उनके साथ युद्ध-कौशल में दक्ष हो गया। विशेष प्रतिस्पर्धा उसकी अर्जुन के साथ रहती और पारखियों के लिए भी यह कहना कठिन था कि दोनों में कौन श्रेष्ठ है।

एक समय राजकुमारों के बल-कौशल के प्रदर्शन के लिए एक रंगभूमि की रचना की गई। इसमें अर्जुन ने तीर फेंकने रथ चलाने आदि के प्रदर्शन से सारी सभा को चकित कर दिया और उनकी सब ओर से प्रशंसा होने लगी। कर्ण को अर्जुन का लोकप्रियता असह्य हो गया। उसने अर्जुन को चुनौती दी और रंगभूमि में ही उनसे लड़ने को तैयार हो गया। उस समय के नियमों के अनुसार राजकुमार राजकुमारों से ही प्रतियोगिता करते थे। गुरुवर कृपाचार्य ने कर्ण से अपना वंश-परिचय देने के लिए कहा। कर्ण तो सारथी का पालित पुत्र भर था। अपना ऐसा परिचय देता बहुत लज्जित हुआ। दुर्योधन को कर्ण जैसे योद्धा को अपनी ओर कर लेने का अच्छा अवसर मिला। उसने उसका सूत-वंशीय कलंक धोने के लिए अंग प्रदेश का राजा घोषित कर दिया। इसी से कर्ण को अंगराज भी कहा जाता है। अर्जुन प्रतियोगिता के लिए तैयार नहीं हुए और इसी समय से कर्ण दुर्योधन का मित्र बन गया और उसने सदा दुर्योधन का साथ देने की प्रतिज्ञा की। यह पहला अपमान था जो कर्ण को सूतपुत्र होने के कारण सहना पड़ा।

दूसरा अपमान उसका द्रौपदी स्वयंवर के समय हुआ। द्रौपदी स्वयंवर में मत्स्य-वेध की बड़ी कठिन शर्त रखी गई थी। उसमें कर्ण भी गया था।

लाक्षागृह से अपने प्राण बचाकर भागनेवाले पांडव भी उसमें ब्रह्मचारी-मुनियों के वेष म गए थे। परन्तु कर्ण जिस समय लक्ष्यवेध के लिए उद्यत हुआ उस समय द्रौपदी ने उसके सूत-पुत्र होने के कारण अपमानजनक वचन कहकर उसे वरण करने से इन्कार कर दिया। अंत म अर्जुन ने लक्ष्यवेध किया और द्रौपदी ने उनके गले में जयमाल डाल दी। आगे चलकर कुंती के मुख से एक ऐसी बात निकल गई कि वह पाँचों पाण्डवों की पत्नी मानी गई।

अपने ससुर द्रुपद की सहायता से जब युधिष्ठिर को हस्तिनापुर का राज्य मिला और उन्होंने राजसूय यज्ञ करने की तैयारी की तब चारों दिशाओं के राजाओं को पराजित करने और उनसे कर वसूल करने के लिए युधिष्ठिर के चारों भाई चार दिशाओं में गए। भीम पूर्व में गए जिधर कर्ण का अंग-बंग का राज्य था। कर्ण और भीम का बड़ा घोर संग्राम हुआ परंतु अपनी दान वीरता के कारण अब वह अपना कवच-कुंडल खो चुका था जो उसे अजेय बनाता था। कर्ण ने पराजय स्वीकार की और राजसूय यज्ञ मे अन्य राजाओं के समान ही आया।

कौरवों और पांडवों का युद्ध धर्म और अधर्म का युद्ध था। कर्ण ऐसे अजेय योद्धा को कौरवों की ओर, अधर्म की ओर, जाते देखकर देवताओं म चिंता छा गई। इंद्र ने सोचा किसी न किसी प्रकार कर्ण से अमृतोद्भूत कुंडल-कवच ले लेना चाहिए। एक दिन इन्द्र ब्राह्मण का रूप बनाकर कर्ण के सामने पहुँच गया। कर्ण के मन में ब्राह्मण के लिए बड़ा सम्मान था और उसके पास कुछ भी ऐसा न था जो ब्राह्मण के लिए अदेय हो। इन्द्र कर्ण की यह उदारता जानता था उसने इसी कवच-कुंडल की याचना की। कर्ण ने अपना कुंडल और अपनी त्वचा से जुड़े हुए कवच को यत्न से काटकर अलग किया और ब्राह्मण को दान कर दिया। उसके मन में न किसी प्रकार का खेद हुआ न पश्चाताप उल्टे वह बहुत प्रसन्न हुआ कि उसने ब्राह्मण का वचन खाली नहीं किया। कर्ण के उस अद्भुत दान से इन्द्र बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने कवच-कुंडल के बदले उसे 'शक्ति' नामक एक अमोघ अस्त्र प्रदान किया। उसे वह केवल एक ही बार छोड़ सकता था पर जिसपर वह गिरता उसका अवश्य ही संहार कर देता चाहे वह कितना ही शक्तिशाली शूर क्यों न हो। मगर इस प्रसंग के बाद कर्ण किसी भी साधारण योद्धा के समान अपने ही बल-विक्रम पर निर्भर

रखेगा। कर्ण इस शक्ति को बड़े यत्न से संचित रखता था क्योंकि उसने सोचा था किसी दिन वह इसे अर्जुन पर छोड़ेगा। इसी कारण भीम से हार मानकर वह राजसूय में आया तो पर भीतर ही भीतर जलता हुआ।

राजसूय के शीघ्र बाद ही युधिष्ठिर अपना राज-पाट अपने भाइयों और अपनी पत्नी को भी जुए में हार गए। शायद उस अवसर पर पांडवों और द्रौपदी के प्रति भी जितने कटु शब्द कर्ण ने कहे उतने किसी अन्य ने नहीं। उसे रंगभूमि और उससे भी अधिक स्वयंवर में द्रौपदी के अपमानजनक वचनों की याद थी। पांडवों और द्रौपदी के वस्त्र उतरवाने की सलाह कर्ण ने ही दुःशासन को दी थी। उसीने द्रौपदी को दासी तथा उससे दूसरा पति चुनने की बात कही थी।

पांडव जब बारह वर्ष के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास के लिए निकल गए तो कर्ण को अपनी शक्ति और प्रभाव बढ़ाने का पूरा अवसर मिला। उसने दिग्विजय की और हस्तिनापुर में उसका बड़ा स्वागत-सत्कार हुआ।

जब पांडवों के वनवास से लौटने पर महाभारत की तैयारी होने लगी और दोनों दल अपने-अपने पक्ष में राजाओं को मिलाने लगे तब भगवान कृष्ण ने कर्ण को बहुत समझाया पर उसने दुर्योधन का पक्ष ग्रहण करने की जिद ठानी। कृष्ण उसकी शक्ति जानते थे और उसकी कमजोरी भी। शल्य को भी भगवान कृष्ण पांडवों की ओर लाना चाहते थे पर वह दुर्योधन से प्रतिज्ञाबद्ध हो चुका था। उसने कर्ण के सारथी बनने का कार्य अपने ऊपर लिया था। भगवान कृष्ण ने शल्य से कहा 'तुम कर्ण के सारथी अवश्य बनो, मगर देखो कर्ण जब-जब अन्य योद्धाओं से अपनी तुलना कर आत्मप्रशंसा करे तब तुम उसकी हाँ में हाँ मिलाना पर बीच-बीच में यह कहते रहना कि केवल अर्जुन से मुझे डर है।' इसकी शंका भी कर्ण को भीतर से दुर्बल बना रही।

महाभारत के युद्ध में कई बार वह कई योद्धाओं से पराजित हुआ पर उसने अपनी शक्ति अर्जुन पर छोड़ने को सुरक्षित रखी। भगवान कृष्ण तब तक अर्जुन को उससे निर्णयात्मक युद्ध नहीं करने देना चाहते थे जब तक उसके पास वह शक्ति रही। अंत में उन्होंने घटोत्कच का सामना कर्ण से करा दिया। घटोत्कच हिडिम्बा से उत्पन्न भीम का पुत्र था और महापराक्रमी था—दानव

मानव-देवता के रज-वीर्य-अंश से उत्पन्न। घटोत्कच ने कर्ण के साथ घोर संग्राम किया और कर्ण को लगा कि अपने प्राण बचाने को उसे अंतिम शक्ति का उपयोग करना पड़ेगा। वह शक्ति लगते ही घटोत्कच ढेर हो गया और कर्ण निःशस्त्र फिर भी वह अपने पराक्रम से लड़ने को तैयार हुआ। केवल भीम और अर्जुन को छोड़ उसने नकुल सहदेव युधिष्ठिर समेत अनेकानेक वीरों को पराजित किया। अंत में अर्जुन के साथ उसका द्वैरथ युद्ध हुआ। युद्ध करते-करते अचानक उसके रथ का पहिया जमीन में धँस गया। उसे निकालने के लिए वह रथ से नीचे उतरा। उसने अर्जुन से अनुरोध किया कि जब तक वह फिर से रथ पर आसीन न हो जाए तब तक वह उसपर बाण न चलाए, परंतु भगवान कृष्ण का आदेश कुछ और ही था।

कर्ण की मृत्यु के पश्चात् जब पांडवों को उसके साथ अपना संबंध मालूम हुआ तो वे बहुत दुःखी हुए। वह तो उनका सहोदर भाई ही था। पांडवों ने विधिवत उसका दाह-संस्कार किया और उसकी पत्नी उसके बच्चों तथा उसके आश्रितों की रक्षा की। कुंती की वेदना सहृदयों की कल्पना पर ही छोड़ना चाहिए। उसके एक पराक्रमी पुत्र ने दूसरे पराक्रमी पुत्र का वध किया। पर धर्म और अधर्म के युद्ध में ऐसा होना ही था। महाभारत में उसका संकेत है कि कर्ण नरकासुर का अवतार था।

मृत्यु के पश्चात् कर्ण स्वर्ग जाकर सूर्यदेव में लीन हो गया।

हिन्दी में कर्ण के ऊपर दो प्रसिद्ध खंड-काव्य हैं। एक श्री आनंद कुमार का लिखा 'अंगराज' और दूसरा श्री दिनकर का लिखा 'रश्मिरथी'। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र कर्ण पर एक महाकाव्य लिख रहे थे। उसका कुछ अंश उन्होंने यदा-कदा सुनाया भी था। महाकाव्य का प्रकाशन शायद अभी तक नहीं हो सका।
[१९६१]

० ० ०

मानव-देवता के रज-वीर्य-अंश से उत्पन्न। घटोत्कच ने कर्ण के साथ घोर संग्राम किया और कर्ण को लगा कि अपने प्राण बचाने को उसे अमोघ शक्ति का उपयोग करना पड़ेगा। वह शक्ति लगते ही घटोत्कच ढेर हो गया और कर्ण निश्शक्त फिर भी वह अपने पराक्रम से लड़ने को तैयार हुआ। केवल भीम और अर्जुन को छोड़ उसने नकुल सहदेव युधिष्ठिर समेत अनेकानेक वीरों को पराजित किया। अंत में अर्जुन के साथ उसका द्वैरथ युद्ध हुआ। युद्ध करते-करते अचानक उसके रथ का पहिया जमीन में धँस गया। उसे निकालने के लिए वह रथ से नीचे उतरा। उसने अर्जुन से अनुरोध किया कि जब तक वह फिर से रथ पर आसीन न हो जाय तब तक वह उसपर बाण न चलाए, परंतु भगवान कृष्ण का आदेश कुछ और ही था।

कर्ण की मृत्यु के पश्चात् जब पांडवों को उसके साथ अपना संबंध मालूम हुआ तो वे बहुत दुखी हुए। वह तो उनका सहोदर भाई ही था। पांडवों ने विधिवत उसका दाह-संस्कार किया और उसकी पत्नी उसके बच्चों तथा उसके आश्रितों की रक्षा की। कुंती की वेदना सहृदयों की कल्पना पर ही छोड़ना चाहिए। उसके एक पराक्रमी पुत्र ने दूसरे पराक्रमी पुत्र का वध किया। पर धर्म और अधर्म के युद्ध में ऐसा होना ही था। महाभारत में उसका संकेत है कि कर्ण नरकासुर का अवतार था।

मृत्यु के पश्चात् कर्ण स्वयं जाकर सूर्यदेव में लीन हो गया।

हिन्दी में कर्ण के ऊपर दो प्रसिद्ध खंड-काव्य हैं। एक श्री आनंद कुमार का लिखा 'अंगराज' और दूसरा श्री दिनकर का लिखा 'रश्मिरथी'। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र कर्ण पर एक महाकाव्य लिख रहे थे। उसका कुछ अंश उन्होंने यदा-कदा सुनाया भी था। महाकाव्य का प्रकाशन शायद अभी तक नहीं हो सका।

११६१]

० ० ०